निवेदन

विद्यापति रस-सिद्ध कवि थे, एक ऐसे कवि जो कभी भी देश-काल की संकुचित सीमाओ में आवद्ध नही होते। एक जमाना था जब विद्यापति के आलोचक उन्हें इस या उस भाषा का कवि प्रमाणित करने के अनावश्यक प्रयत्न को ही समीक्षा की इयत्ता समझते थे। उनके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही था कि विद्यापति मैथिली के कवि है, हिन्दी के है अथवा बँगला के। उन्हें अपना सिद्ध करने को सब तैयार थे, नाना प्रकार के सम्बन्ध-सूत्रो की घनी चादरें सभी बुनते जा रहे थे; पर किसी ने एक क्षण के लिए यह नही सोचा कि बाहरी सम्बन्धो की इन पर्तो में कही वे गुण तो नही छिपते जा रहे हैं जिनकी वजह से कवि को सभी 'अपना' कहने के लिए उत्कंठित होते थे। विद्यापति मैथिली के कवि सिद्ध हुए जैसा कि वे थे। तव प्रश्न आया कि वे शैव थे या वैष्णव। विद्यापति को उसी रूप में ग्रहण करने को हम तैयार नही थे जैसा कि वे थे क्योकि किसी कवि की कविताओ को समझने के पहले हम अपने पूर्वग्रहो की तृप्ति अधिक आवश्यक समझते थे। हम मानते थे कि शैव कवि यदि प्रेम-गीत लिखता है, तो वह अवश्य ही शृंगारिक होगा क्योकि भक्ति परक प्रेम-गीत तो केवल वैष्णव कवि ही लिखता है। इसलिए समालोचना के तीसरे दौर मे विद्यापति के आलोचक के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही था कि विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक।

समालोचना के चौथे दौर में कौन से ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गये है, जिनके लिए यह पुस्तक लिखनी पडी, ऐसा प्रश्न सहज स्वाभाविक है। उत्तर में निवेदन है कि तीन दौर की भयकर समीक्षाओ के वाद विद्यापति सामान्य विद्यार्थी के लिए वर्ज्य हो चुके है और साहित्य की उच्चतम कक्षाओ मे भी उनके स्तुति-पद और प्रकृति सम्वन्धी गीत आदि ही पढ़ाये जाते है, इसलिए अब आलोचक के सामने उनके काव्य के वारे में कोई खास सवाल नहीं रह गया है। इसलिए विद्यापति के काव्य के विषय में लिखी हुई यह पुस्तक उन विद्यार्थियो के लिए नही है जो विद्यापति के काव्य को किसी न किसी बिल्ले के आधार पर समझते है, जो उनके काव्य को उपर्युक्त ज्वलन्त प्रश्नो को दृष्टि में रख कर ही पढ़ना चाहते है, या जो विद्यापति के काव्य को वर्ज्य और अवर्ज्य के खानो में वाँट

कर रखते हैं, और उतना ही अंश पढ़ना चाहते हैं जितना कोर्स में निर्धारित है। यह पुस्तक विद्यापति के उन पाठकों के लिए है जो चौदहवीं शताब्दी के संघर्षपूर्ण वातावरण में उत्पन्न एक महान् कवि के गत्वर व्यक्तित्व को देखना चाहते हैं, उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करके उन सांस्कृतिक मूल्यों का आकलन करना चाहते हैं जो ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। ऐसे प्रबुद्ध पाठकों के मन में भी शृंगार और भक्ति के बारे में किंचित् द्विधा का भाव हो सकता है, इसे दृष्टि में रख कर भक्ति-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की पुनः परीक्षा की गई है और परिपार्श्व में भक्ति और शृंगार के सम्बन्धो का विश्लेषण किया गया है।

विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के कवि थे। सौन्दर्य के बारे मे उनकी क्या धारणा थी, अथवा उनके सौन्दर्यबोध का क्या स्तर था—आदि प्रश्नों पर काफी विस्तार से विचार किया गया है। मानव और प्रकृति—दोनों ही के सौन्दर्य-चित्रण में कवि की रुचि, शैली, मौलिकता और परम्परा धर्मिता यानी पुरानी परिपाटी की स्वीकृति की व्याख्या की गई है। प्रेम के विषय में कवि के विश्वास और उनकी धारणाओ का स्पष्टीकरण करते हुए राधा और कृष्ण के प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का आकलन 'विद्यापति की राधा' शीर्षक निबन्ध मे किया गया है।

गीति-काव्य के बारे में, उसके रूप और आत्मा को दृष्टि में रख कर बिल्कुल नये ढंग से विचार किया गया है। छायावादी गीतियो के सिलसिले मे 'लीरिक' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार किया जाता है; किन्तु अभाग्यवश अभी तक इस काव्य-रूप के विभिन्न पक्षों के सम्यक् अध्ययन का अभाव दिखाई पड़ता है। मुझे विश्वास है कि 'गीति-काव्य : उदय और विकास' शीर्षक निबन्ध कुछ अंशों में इस कमी को पूरा करेगा और विद्यापति की गीत-रचना-प्रक्रिया को समझने में तथा उनके गीतो की लय और आत्मा को पहचानने में थोडा-बहुत सहायक होगा।

अंत में विद्यापति के अवहट्ठ-काव्य का भी संक्षिप्त मूल्याङ्कन दे दिया गया है क्योकि यह उनके कृतित्व का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है और इसका अध्ययन अनिवार्यतः उनके साहित्य के कई प्रश्नो को समाहित करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

विद्यापति के पदों के उद्धरणादि मैंने श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित पदावली से लिए हैं। डा० विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित 'विद्यापति' से भी कई पद लिये गए हैं, खास तौर से ऐसे पद जो पाठ और अर्थ की दृष्टि से पदावली के पदो से ज्यादा प्रामाणिक मालूम हुए हैं। मैं इन विद्वान् सम्पादको का आभारी हूँ। इस कार्य में मुझे अन्य भी कई विद्वानो की रचनाओं से पर्याप्त सहायता मिली है। ऐसे सभी सुधी कृतिकारो के प्रति मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दी-विभाग, विश्वविद्यालय
वाराणसी, ११-११-५७ } शिवप्रसाद सिंह

विषय-सूची

व्यक्तित्व-विश्लेषण

ईस्वी सन् १००० से १२०० तक का भारतीय साहित्य नाना प्रकार की परस्पर-विरोधी भावधाराओ का संगम-स्थल हो गया था। विदेशी आक्रमण ने न केवल देश के शासन को नष्ट-भ्रष्ट किया बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में भी भयंकर तब्दीली पैदा कर दी। यह परिवर्तन बहुत स्थूल और स्पष्ट नही था। बाढ़ के पानी की तरह विदेशी संस्कृति के बहुत से तत्त्व भारतीय संस्कृति में घुलमिल गए, इससे न केवल सामाजिक भूमि में ही परिवर्तन आया बल्कि अपरिचित भावधारा के इस आक्रमण के कारण देशीय संस्कृति को कई रूपों में 'स्वरक्षा' के लिए अपने को संकुचित करना पड़ा। वैसे भी यह काल भारतीय मनीषा का कुंठा-काल ही था। सामन्तवादी संस्कृति इतनी क्षयिष्णु थी कि उसमें नवजीवन का संचार असभव हो गया था। स्थापत्य, चित्रकला, साहित्य और संगीत के अन्दर जीवनीशक्ति का स्थान चमत्कारिकता और कतूहल-वर्धक कलाकारिता ने ले लिया था। साहित्यकार का दर्जा जीवन के द्रष्टा का नही रासायनिक का हो गया था, जो प्राणहीन सामन्तों के मन में कामेच्छा उत्पन्न करने के लिए दोहे और गाथाओं की गोलियाँ देते थे। विदेशी आक्रमण ने इन अड्डो को सदा के लिए उखाड़ कर फेंक दिया। घुन लगे मन के ये जर्जर जीव स्वयं नष्ट हो जाते, इसमें शक नही किन्तु विदेशी आक्रमण ने इस विनाश को थोडा और तीव्र कर दिया। दर्शन और धर्म के स्थान पर तंत्र-मंत्र, टोना-टटका और गुह्य साधनों की प्रधानता हो गई थी, इन भयोत्पादक चमत्कारो के प्रति जनता की श्रद्धा समाप्त होने लगी थी, भक्ति आन्दोलन ने इस गुहा-गह्वर के चमत्कारिकों को एकदम उखाड़ फेंका। अपभ्रंश साहित्य के अध्येता के लिए

यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि जहाँ इस प्रकार की कुंठा-ग्रस्त प्रवृत्ति का आधिपत्य था, साहित्यकार मुट्ठी भर दरबारियों के मनोरंजन को कविकर्म की इयत्ता समझ रहे थे, चित्रकार कामकला और विविध आसन-मुद्राओं के चित्र खीचने में ही मस्त थे, वहाँ अपभ्रंश में एकाएक इस तरह का जीवन्त, नवीन प्राणवान भावनाओं से स्फुरित और मानव मन की सरल सस्मित अनुभूतियो से अनुरंजित साहित्य कैसे लिखा जाने लगा। इस सत्य को समझने के लिए हमें इस काल के जन-जागरण को देखना होगा जो सामन्ती संस्कृति से आक्रान्त होकर सभ्यता से वंचित-उपेक्षित जीवन बिता रहा था जो संक्रमणकालीन परिस्थितियो मे अपनी स्थिति के प्रति पुनः जाग्रत हुआ और एक नये वातावरण की सृष्टि करने में सफल हुआ। भक्ति आन्दोलन इस नवीन पुनर्जागरण का परिणाम था। इसे मुट्ठी भर सामन्तों का नही, एक विशाल जन-समूह का संरक्षण प्राप्त था। विद्यापति इस नवीन जन-जागरण के चारण है। वैसे तो १४वीं शताब्दी से १६वीं तक का साहित्य अनेक प्रभादीप्त व्यक्तियों के समवेत आविर्भाव से गौरवान्वित हुआ है—बंगाल में चण्डीदास, असम में शंकरदेव, मध्यदेश में कबीर, तुलसी, सूर, राजस्थान में मीराँ, गुजरात में नरसी मेहता इस जागरण के सन्देश-वाहक हैं, किन्तु विद्यापति का व्यक्तित्व कुछ निराला है। यह सत्य है कि संसार के किसी भी साहित्य में एक साथ इतनी महत् प्रतिभाएँ एकत्र शायद ही दिखाई पड़े, इनमें सबका व्यक्तित्व महान् है, 'को बड़ छोट कहत अपराधू', किन्तु जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है मुझे यह कहने में सकोच नही कि विद्यापति की तरह स्वच्छन्द, गत्वर, रोमेण्टिक, व्यक्तित्व किसी और का नही।

व्यक्तित्व किसे कहते है? कवि के अध्ययन में इस व्यक्तित्व का क्या महत्व है आदि प्रश्नों पर मै विस्तार से विचार करना नहीं चाहता, और न तो यहाँ आवश्यक ही है; किन्तु थोड़े में इतना जरूर कहना चाहूँगा कि व्यक्तित्व कवि का वह गुण है जो अज्ञात रूप से उसके साहित्य की उन तमाम वस्तुओ के लिए जिम्मेदार है जो दूसरो के साहित्य में नही मिलती। व्यक्तित्व नाना प्रकार की विशेषताओ का वह सजीव

पुञ्ज है जो एक व्यक्ति को हजारों से अलग करता है। व्यक्तित्व वह रासायनिक प्रक्रिया है जो किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण उपलब्धि को 'वह' बनाती है, जो वह है। किसी कवि के व्यक्तित्व का मतलब दो प्रकार से स्पष्ट होता है। उस कवि की आत्माभिव्यक्ति और उसके निर्मित चरित्रों, मनःस्थितियों में उसकी आत्मा की छाया। एक कवि या लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी कृति से या तो पूर्ण अलग करेगा या उसमें अन्तर्निहित कर देगा। किन्तु व्यक्तित्व को अलग करके भी उसे अपने चरित्रो के माध्यम से अपने को व्यक्त करना पड़ेगा। इस प्रकार का विवाद वस्तुतः रोमेण्टिक काव्यधारा के साथ ही उपस्थित हुआ। रोमेण्टिक कवि अपने साहित्य में अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देता है। उदाहरण के लिए फिल्डिग ने अपने व्यक्तित्व को अपने चरित्रो के माध्यम से व्यक्त करने की वस्तु बनाया, यानी चरित्रो के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी, जबकि रोमेण्टिक ह्यूगो ने अपने को चरित्रों में निक्षिप्त कर दिया। इसी के आधार पर लेखको में वस्तुनिष्ठ, और व्यक्ति-निष्ठ दो श्रेणियाँ बन जाती हैं। प्रथम प्रकार के लेखक यानी वस्तुनिष्ठ अपने व्यक्तित्व की मूल विशेषताओ को भिन्न-भिन्न चरित्रों के माध्यम से तटस्थ होकर व्यक्त करते हैं जबकि व्यक्तिनिष्ठ लेखक एक ऐसा केन्द्रीय चरित्र प्रस्तुत करता है जो उसका प्रतिनिधि होता है, जो लेखक के मनोभावों को उसी प्रकार स्पष्ट करता है जैसे शीशा दर्शक के चेहरे की हर रेखा को हूबहू व्यक्त कर दिया करता है। जो भी हो दोनो प्रकार के लेखको के साहित्य को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। व्यक्तित्व आन्तरिक और वाह्य दोनो प्रकार की विशेषताओ—जिनमें अच्छी-बुरी सारी बातें शामिल हैं, का मिश्रित रूप है, जो इनका योग-फल नही है वल्कि इन सवके मिश्रण से वनी एक ऐसी सजीव वस्तु है जो किसी व्यक्ति को उसकी अलग इकाई कायम रखने में सहायक होती है, अर्थात् उसे 'वह' वनाती है जो 'वह' हैं। इसमें व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, धार्मिक,

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भांग क गुंडा
बिनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुंडा
तुरुक तोषारहि चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढ़ी थुक बाहइ
(२।१७४-७७)

कपूर के समान शुद्ध भोजन को तिरस्कृत करके प्याज-लशुन खाने वाले इन तुर्कों के कार्यों से विद्यापति को नफरत थी, क्योंकि वे जबर्दस्ती ब्राह्मण बटुक को पकड़ लाते थे और उनके शिर पर गाय का शोरवा रख देते थे :

घरि आनए बामन बटुआ, मथा चढ़ावए गायक चुड़ुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावये चाह घोर
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दू बोलि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार
(२।२०२-११)

विद्यापति को अपनी प्रतिभा पर विश्वास था इसीलिए उन्हें अपनी कवित्व शक्ति और विद्या-बुद्धि पर अभिमान था। कवि के लिए अभिमान (Ego) भूषण है यदि वह दूसरे का अहित करने वाला न हो। कवि अपने को संसार का जीव समझते हुए भी संसार से तटस्थ और साधारण जनों से थोड़ा भिन्न तथा ऊपर उठा हुआ समझता है। कबीर की अभिमानपूर्ण उक्तियों से घबरा कर लोग उन्हें गर्वीला कहते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कहा करते थे।[1] किन्तु यह रोग कबीर का अकेला नहीं है। वर्तमान समय में वर्नर्ड शा [illegible] । ही [illegible] था, शा ही क्यों जाने कितने कवि और स[illegible] प्रवृत्ति [illegible] र हैं। किन्तु यह रोग नहीं, कवि की औ[illegible] । का अधिकार है जिनके

बाद भी उसे संसार से प्रतिदान नही मिलता। इसलिए यह अभिमान कभी-कभी प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होता है। वैसे साधारण तौर से यह कवि के मन के आत्मविश्वास का ही द्योतक है। कबीर का आत्म-विश्वास उस समाज की प्रतिक्रिया थी जो तथाकथित उच्च जातियो से आक्रान्त था। कबीर के मन में हीनता की ग्रन्थि न थी इसीलिए यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रा में था कि कभी-कभी पंडितों को इसमें गर्वोक्ति की गंध आती है, उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक-नायक की हमदर्दी।"[1]

विद्यापति का आत्मविश्वास दूसरे प्रकार का था। वे हीनता ग्रन्थि के शिकार होने की आशंका भी नही कर सकते थे इसीलिए कबीर की तरह अतिरिक्त आत्मविश्वास या गर्वोक्ति भी उनमें नही है। उनका आत्मविश्वास स्वत.चालित था, दरबारो में रहनेवाले कवियों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना रहती ही है। नवयुवक विद्यापति का इतनी चमत्कारिक प्रतिभा के साथ आगमन ईर्ष्या का विषय रहा होगा। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है—

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल।
(१।१७-१८)

किन्तु इन दुर्जनों से विद्यापति को किंचित् भी आशंका नहीं थी क्योकि द्वितीया का चन्द्र कभी कलंकित नहीं होता, वह सदा ईश-मस्तक पर ही सुशोभित होता है—

वालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नायर मन मोहइ

विद्यापति मध्यकालीन कवि श्रीहर्ष की तरह एक ओर न्याय के ग्रथिल पथ पर विचरण करते थे तो दूसरी ओर प्रेम की कुसुम-सज्जित

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ९६

वैयक्तिक जीवन का हर पहलू शामिल है। उसके जीवन के प्रेरणा-स्रोत, उसकी रुचियाँ, संस्कार, संसर्ग, प्रवृत्ति, आमोद-प्रमोद, प्रेम, आचार-विचार, व्यवहार, यहाँ तक कि उसका खान-पान, रीति-रिवाज, सब कुछ ज्ञातव्य है, क्योंकि इन सबसे मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। गुण और दोष दोनों शक्कर और तेजाब की तरह एक ही स्थान से पैदा होते हैं। हिपोलाइते टेन ने व्यक्तित्व के निरीक्षण में तीन वस्तुओ को आवश्यक बताया है—कवि या लेखक का वंश-परिवार, पारिपार्श्विक परिस्थितियाँ और उस युग की विचारधारा तथा विश्वास।

विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का स्तबक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध सम्भवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी-विदेशी सांस्कृतिक विचार-धारायें संघर्ष-रत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि है, वे दरबारी होते हुए भी जन-कवि है, शृंगारिक होते हुए भी भक्त है, शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष है, संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी विवेक-संत्रस्त या मर्यादावादी नही है। इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व अत्यन्त गुम्फित और उलझा हुआ है—यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नही। विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उस पृथ्वी की उपज है जिसमें धान की यौवनपूर्ण गंध और आमों के बौर की महक है। वह मिथिला जिसके स्वर्णगर्भित अंचलों में वाग्मती, कमला, गंडक और कोसकी की धारायें निरन्तर प्रवाहित हैं, जहाँ की काली अमराइयाँ नील मेघों से ढँकती हैं और शारद चन्द्र की चाँदनी से सुधास्नात होती रहती है, वह मिथिला जो तर्क-कर्कश पण्डितो के न्याय-शास्त्रीय वाद-विवादो और युवतियों के प्रेम-गीतों को एक साथ अपने हृदय में सुलाये रहती है।

विद्यापति संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी तुलसीदास की तरह विवेक-संत्रस्त और मर्यादा से भाराक्रान्त नही थे। उन्हें अपने

ब्राह्मणत्व पर गर्व था। कीर्तिसिंह की प्रशंसा में उन्होंने गर्व के साथ कहा था कि राजा और ब्राह्मण एक शरीर में एकत्र कम होते है, कीर्तिसिंह भूपति है और साथ ही भू-देव :—

ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव
दुहुँ एकत्थ न पाविअइ भुअवइ अरु भूदेव

विद्यापति मिथिला के एक सम्पन्न ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए जो अपने विद्या-प्रेम के लिए विख्यात था। कर्मादित्य, देवादित्य, जैसे पूर्वपुरुष न केवल विद्वान् थे वल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि 'विद्वानों के ऐसे यशस्वी परिवार में विद्यापति का जन्म हुआ, जो अपने परम्परागत विद्या-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। कवि की रचनाओं में इस परम्परा का पूर्ण प्रतिफलन दिखाई पड़ता है।'[1] विद्यापति धर्म-दर्शन, भूगोल, न्याय आदि के प्रकाण्ड पंडित थे। शिवसिंह के आदेश पर लिखे हुए पुरुष-परीक्षा ग्रन्थ में विद्यापति ने लिखा है:—

यो गौडेश्वरगज्जतेश्वर रणक्षौणीषु लब्धा यशो
दिक्-कान्ताचय-कुन्तलेषु नयते कुन्दस्रजामापदम्
तस्य श्रीशिवसिंह देव नृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रंथिल दण्डनीतिविषये विद्यापतिव्र्यातनोत्

विद्यापति ग्रंथिल दण्ड-नीति में भी पारंगत थे। संस्कृत भाषा पर उनका कितना अधिकार था, इस ग्रन्थ को देखने से पता चलता है। विद्या, ज्ञान; ब्राह्मण-परम्परा सब कुछ उन्हे दायरूप में मिली थी। किन्तु इस प्रकाण्ड ज्ञान ने उनके हृदय के भाव-स्रोत को सुखाया नही, उन्हें भव-विमुख नही किया न तो उन्हें संसार अनित्य, मिथ्या और वुद्बुद् की भाँति प्रतीत हुआ। ब्राह्मणत्व कभी-कभी जोश पर भी आता था, खास तौर से मुसलमानों के आक्रमण के समय विजेताओ की सस्कारहीन प्रवृत्तियाँ और कुरुचिपूर्ण रीति-रिवाज उन्हें क्षुब्ध कर देते थे। कीर्तिलता में मुसलमानो के इस व्यवहार की उन्होंने वड़ी तीव्र भर्त्सन की है :—

1. Songs of Vidyapati page 20

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भांग क गुडा
विनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुंडा
तुरुक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दबलि दाढ़ी थुक बाहइ
(२।१७४-७७)

कपूर के समान शुद्ध भोजन को तिरस्कृत करके प्याज-लशुन खाने वाले इन तुर्कों के कार्यो से विद्यापति को नफरत थी, क्योंकि वे जवर्दस्ती ब्राह्मण वटुक को पकड़ लाते थे और उनके शिर पर गाय का शोरवा रख देते थे :

धरि आनए वामन बटुआ, मथा चढ़ावए गायक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावये चाह घोर
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहु देना एक ठाम नही
हिन्दू बोलि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार
(२।२०२-११)

विद्यापति को अपनी प्रतिभा पर विश्वास था इसीलिए उन्हें अपनी कवित्व शक्ति और विद्या-बुद्धि पर अभिमान था। कवि के लिए अभिमान (Ego) भूषण है यदि वह दूसरे का अहित करने वाला न हो। कवि अपने को संसार का जीव समझते हुए भी संसार से तटस्थ और साधारण जनों से थोड़ा भिन्न तथा ऊपर उठा हुआ समझता है। कबीर की अभिमानपूर्ण उक्तियो से घबरा कर लोग उन्हें गर्वीला कहते है। शुक्ल जी ने लिखा है कि कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कहा करते थे।[1] किन्तु यह रोग कबीर का अकेला नही है। वर्तमान समय में बर्नर्ड शा को भी ऐसा ही रोग लगा था, शा ही क्यों जाने कितने कवि और साहित्यकार इस प्रवृत्ति के शिकार हैं। किन्तु यह रोग नही, कवि की ओर से उन तमाम कष्टों और साधनाओं का प्रतिकार है जिनके

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७९

बाद भी उसे संसार से प्रतिदान नही मिलता। इसलिए यह अभिमान कभी-कभी प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होता है। वैसे साधारण तौर से यह कवि के मन के आत्मविश्वास का ही द्योतक है। कबीर का आत्म-विश्वास उस समाज की प्रतिक्रिया थी जो तथाकथित उच्च जातियो से आक्रान्त था। कबीर के मन में हीनता की ग्रन्थि न थी इसीलिए यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रा में था कि कभी-कभी पंडितों को इसमें गर्वोक्ति की गंध आती है, उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक-नायक की हमदर्दी।"[1]

विद्यापति का आत्मविश्वास दूसरे प्रकार का था। वे हीनता ग्रन्थि के शिकार होने की आशंका भी नही कर सकते थे इसीलिए कबीर की तरह अतिरिक्त आत्मविश्वास या गर्वोक्ति भी उनमें नही है। उनका आत्मविश्वास स्वत.चालित था, दरबारो में रहनेवाले कवियों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना रहती ही है। नवयुवक विद्यापति का इतनी चमत्कारिक प्रतिभा के साथ आगमन ईर्ष्या का विषय रहा होगा। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है—

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल।
(१।१७-१८)

किन्तु इन दुर्जनो से विद्यापति को किंचित् भी आशंका नही थी क्योंकि द्वितीया का चन्द्र कभी कलंकित नही होता, वह सदा ईश-मस्तक पर ही सुशोभित होता है—

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नायर मन मोहइ

विद्यापति मध्यकालीन कवि श्रीहर्ष की तरह एक ओर न्याय के ग्रंथिल पथ पर विचरण करते थे तो दूसरी ओर प्रेम की कुसुम-सज्जित

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६६

वीथियों में। उनके लिए दोनों में कोई अन्तर नहीं था। उन्होन सुकुमार साहित्य भी लिखा और 'दृढ़ न्याय ग्रह ग्रंथिल' पथ पर भी चले। भारती उनकी पति-परायणा पत्नी की तरह थी, जो उनके साथ दर्भांकुरन्यस्त भूमि पर या मृदूत्तरच्छदवती शय्या पर समान रूप से विहार करती थी। विद्यापति ने सरस्वती की वन्दना में एक श्लोक लिखा है, जिससे उनके मन के इस भाव की पुष्टि होती है—

द्वाः सर्वार्थसमागमस्य रसनारंगस्थली नर्तकी
तत्वालोकन-कज्जलध्वजशिखा वैदग्ध्यविश्रामभूः
शृंगारादिरसप्रसाद-लहरी स्वर्ल्लोक-कल्लोलिनी
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसंभ्रम-सखी सा भारती पातु वः।

(१।३)

उन्होंने अपनी कविता के बारे में कीर्तिलता के अन्तिम श्लोक में कहा है—

माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशो-विस्तार शिक्षासखी
यावद्विश्वमिदंच खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती

विद्यापति की भारती माधुर्य रस की प्रसवस्थली है। भारती उनकी रसना पर निरन्तर नर्तकी की तरह क्रीडा किया करती है, वह सभी प्रकार के अर्थों के लिए द्वार रूपा है। एक तरफ उसके प्रकाश में गूढ़ तत्त्वों का आलोकन होता है, दूसरी ओर वह विलास-विदग्ध जनो के लिए विश्राम-स्थल भी है।

विद्यापति दरवारी कवि थे। दरवारी कवि होना कोई बहुत अच्छी वात नहीं मानी जाती। मध्ययुग के दरवारी कवियो के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्रायः अभाव पाया जाता है क्योंकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियो ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटाकर उसे दरवार की नर्तकी वना दिया। उन्होने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न हैं। दरवारों के चाकचिक्य, भोग-वैभव और दमघोंट वातावरण में उनकी आत्मा मरी नही। दरवारो से उन्होंने जीवन का रस ग्रहण किया।

उस वातावरण से उन्होंने कई प्रकार के अनुभव प्राप्त किये जिनसे उनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार पैदा हुआ। उन्होंने कभी भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए अत्युक्ति की शरण न ली, कवियों के लिए उस समय राजा के अलावा दूसरा आश्रय भी कहाँ था? वे अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त की तरह यह नही कह सके कि वल्कल धारण करके गिरि-कन्दराओं में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर दारिद्र्य से शरीर को कष्ट देकर जीवन विता देना श्रेयस्कर है पर किसी राजा के सामने नतमस्तक होकर अभिमान का खंडन कराना नही —

वक्कल निवसणु कंदर मदिरु वणहल भोयन वर ते सुन्दर
वर दालिद्द सरीरह दण्डन, णहि पुरिसह अभिमान विहडणु

किन्तु दरबारो में रहते हुए भी विद्यापति ने इस अभिमान को कभी बेचा नही, कीर्तिसिंह को बार-बार स्वाभिमान की चेतावनी देते हुए जैसे विद्यापति अपने मन के गौरव को ही जाग्रत किया करते है —

मान बिहूना भोअना सत्तुक देओल राज
सरन पइट्ठे जीअना तीनू कायर काज

आश्रयदाता राजा को विपन्नता में उन्होंने आश्वासन दिया, इब्राहिम शाह से साहाय्य-याचना करनेवाले राजा के आश्रित कवि होकर भी उन्होंने मुसलमानी अत्याचार को शिरसा स्वीकार नही किया, तत्कालीन बादशाह के शासन की दुर्व्यवस्था का उन्होने नग्न चित्रण प्रस्तुत किया। दरबार में विद्यापति का सम्मान भी कम न था, वे कीर्तिसिंह के केवल आश्रित कवि नही, मित्र भी थे। शिवसिंह के शासन-काल में कवि को जो सम्मान मिला वह अभूतपूर्व था। विद्यापति ने अपने जीवन-काल में न जाने कितने राज बनते-बिगड़ते देखे थे। उहोने देखा था कि विपत्ति की आँधी में बड़े-बड़े पेड़ कैसे उखड़ते है। विद्यापति दो दर्जन के करीब राजाओं, नवाबो आदि के आश्रय में रहे। सम्पूर्ण जीवन राजदरबारो में बिता देनेवाले विद्यापति ने अपने कृतित्व को कभी भी दरबारी छाया से कलंकित नहीं किया। उनके गीतो में दरबारी संस्कृति की नही, जनता

के मानस की आवाज है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम में सामान्य जनता के सुख, दुख मिलन-विरह को अंकित किया है। वे एकाधिक रानियों, राजकुमारियों के सम्पर्क में आये। दरवार के क्रिया-कलाप को नजदीक से देखा। असली सौन्दर्य वहाँ उपेक्षित था, वाह्य रूप की पूजा होती थी, विद्यापति ने इस सौन्दर्य को देखा था जो दरवारो में एकत्र किया जाता है। उन्होंने उस सौन्दर्य को उसकी असली पृष्ठभूमि प्रदान की, उसे धरती पर उतार कर रखा, उसे चहारदीवारी के घेरे से निकाल कर नदी-तट अमराइयो और खेतों में प्रतिष्ठित किया। कीर्तिलता में दरवार के वर्णन वड़ी वारीकी से चित्रित हैं, नगर के वर्णन वेश्याओं के वर्णन, उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। किन्तु विद्यापति का मन जैसे इस वातावरण में सन्तुष्ट नही है, वह कुछ और खोजता रहता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विद्यापति दरवारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में इन दोनो भावधाराओं का समन्वय कर दिया हैं। आप विद्यापति को हिन्दी रीतिकालीन कविता का जन्मदाता भी कह सकते हैं, नखशिख वर्णन में विद्यापति की उक्तियाँ अनमोल हैं, परवर्ती रीतिकाल के कवियों के वर्णन इनके सामने पिष्टपेषण लगें तो आश्चर्य नहीं। विद्यापति को दूसरी ओर भक्तिकाल का पहला कवि भी कह सकते हैं क्योंकि उनकी कविता में जन-मानस का प्रतिफलन है—वह जन-मानस जो उस युग में भगवान् की सगुण और निर्गुण विभूतियो के सामने अपने हृदय का अनन्य प्रेम नाना रूपों में निवेदित कर रहा था।

विद्यापति सौन्दर्योपासक कवि थे। सौन्दर्य को उन्होंने देखा था, अनुभव किया था। वे सौन्दर्य के वायवी रूप के प्रति आकृष्ट होनेवाले रहस्यवादी नहीं थे, वे सौन्दर्य को विल्कुल साक्षात् स्थूल रूप में देखने के अभ्यासी थे। सौन्दर्य उनके लिए सवसे वड़ा धर्म है, सवसे वड़ा कर्म। सौन्दर्य उनकी आँखों के सामने नाना रूपो में आता है, और विद्यापति सौन्दर्य के स्वागत में निरन्तर जागरूक दिखाई पड़ते हैं। वस्तु का गुण वस्तु में नही वस्तु को पहचाननेवाले की आँखों में निहित होता है।

विद्यापति के पास वह आँख थी, वस्तु के रूप को परखने का अणुवीक्षण यंत्र था उनके पास, जिसकी सीमा में आकर रूप का एक अणु भी उनकी दृष्टि से बच नही सका। सौन्दर्य को वे अपरूप कहते थे—अपरूप जो मनुष्य के मन में पुलक, प्राणों में शक्ति और शरीर में रोमांच भर दे। अपरूप एक ऐसी ताकत है जो सम्पूर्ण विश्व के अणु-परमाणु में चेतना का संचार करती है। इस सौन्दर्य की सबसे बड़ी विशेषता है चिर नूतनता। प्रत्येक क्षण यह सौन्दर्य नूतन वेश मे आता है। विद्यापति कहते हैं मैं जाने कितने जन्मों तक तुम्हारे इस रूप को देखता रहा, पर आँखें, तृप्त नही हुईं—

सखि कि पूछसि अनुभव मोए
से हो पिरित अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होये
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल

जो लोग विद्यापति के नखशिख वर्णन को शृंगार की आसक्ति का परिणाम मानते है वे भूल जाते है कि सौन्दर्य का उपासक कवि सौन्दर्य का भोक्ता नही निर्माता भी होता है। वह शारीरिक सौन्दर्य को आँखों की वस्तु मानता है किन्तु हृदय को तृप्त करने के लिए कुछ और चाहिए जो मात्र मांसल सौन्दर्य में उपलब्ध नही है, वह 'कुछ ही' विद्यापति का अपरूप है, सांसारिक होते हुए भी उससे थोड़ा भिन्न। रमणीयता की परिभाषा देते हुए उसकी 'क्षण-क्षण परिवर्तित नूतनता' को आवश्यक गुण बताया जाता है, विद्यापति भी इसीलिए केवल नूतन सौन्दर्य के उपासक हैं—उन्होने इसे चिरनूतन यौवन, अभिराम यौवन का सम्बोधन दिया है। विद्यापति इस नवयौवन के सौन्दर्य को देखकर नव वसन्त के आगमन पर आम्र गन्ध से प्रमत्त कोकिल की तरह कूक उठते हैं—

नव वृन्दावन नव नव तरु गन

नव नव विकसित फूल
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलि कूल
बिहरइ नवल किसोर
कालिन्दी पुलिन-कुंज वन सोभन
नव नव प्रेम विभोर

सौन्दर्य की पिपासा जब कवि के मन में जगती है तो उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु सुन्दर लगती है, क्योकि उसे अपने आदर्श सौन्दर्य की छाया ही सर्वत्र दिखाई पड़ती है। दुनिया में कोई वस्तु बुरी नहीं। बुरी वस्तु भी कम बुरी नजर आती है यदि वह हमारी कल्पना का विषय बन सके। 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' में एक स्थान पर शेक्सपियर ने लिखा है—[1]

'इस श्रेणी में सबसे सुन्दर वस्तुयें भी क्या है? केवल छायायें। सबसे बुरी वस्तु भी अधिक बुरी नहीं हो सकती यदि कल्पना से उसका परिष्कार करें।'

संसार की प्रत्येक वस्तु सुन्दर है, फिर भी इन वस्तुओ के आधार पर अपरूप का वर्णन सम्भव नही। कवि विद्यापति उस मायिक सौन्दर्य को अनिर्वचनीय समझ कर कहते है—

अमियक लहरी बम अरविन्द
विद्रुम पल्लव फुल्लल कुन्द
निरखि निरखि मै पुनु पुनु हेर
दमन लता पर देखल सुमेरु
साँच कहो मै साखि अनंग
चान्दक मंडल जमुना तरंग
कोमल कनक केआ मुति पात
मसि लए मदने लिखल निज बात

---

1. The best in this kind are but shadows and the worst are no worse if imagination amends them.

पढ़हि न पारिअ आँखर पाति
हेरइत पुलकित हो तनु कांति
भनइ विद्यापति कहओ बुझाए
अरथ असंभव के पतिआए

पद्म अमृत लहरी का उद्‌गीरण करता है, प्रवाल पल्लव में कुन्द-फूल फूले। मैंने बार-बार देखा है। दमनक लता में सुमेरु छिपा है। मैं आपसे सच कहता हूँ, विश्वास कीजिए, मैं अनग की शपथ लेकर कहता हूँ मैंने चन्द्र मंडल में यमुना-तरंग देखी। कोमल स्वर्णमूर्ति निर्मित पत्र में मदन ने मसि लेकर अपनी कथा लिखी। मैं उन अक्षरो की पंक्ति पढ न सका, केवल देखकर शरीर रोमांच से भर गया। विद्यापति कहते हैं कि मै कितना भी समझाऊँ, इस असंभव है पर विश्वास कौन करेगा ?

कवि के मन की यह शंका ही उसकी शक्ति है। सौन्दर्योपासक कवि के लिए सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी वह आसक्ति होती है जो उसे वर्ण्य वस्तु के ऐन्द्रजालिक मायाजाल से बाहर नही निकलने देती। यह आसक्ति या तन्मयता कवि के लिए घातक होती है, विद्यापति सूरदास की तरह कृष्ण की मोहनी छवि पर निछावर नही होते, न तो वे अपने को उस धारा में बहा देते हैं बल्कि वे निरन्तर उस सौन्दर्य से तटस्थ होकर उसकी दैवी-शक्ति की, चुम्बकीय आकर्षण की व्याख्या करने का प्रयत्न करते है। उन्हें विश्वास नहीं कि वह शक्ति मेरे बार-बार समझाने पर भी स्पष्ट होगी। वे प्रेमातिरेक में यह नही कहते कि मैं उस कोटि मन्मथ को पराभूत करनेवाली छवि पर निछावर हूँ। चण्डीदास और विद्यापति की रूपाशक्ति की विवेचना करते हुए निराला जी ने लिखा है कि 'विद्यापति सौन्दर्य के स्रष्टा भी जबर्दस्त थे और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे और अपनी इच्छानुसार उसमें मिलकर एक भी हो जाये। चण्डीदास में केवल तन्मयता की शक्ति ही प्रस्फुटित हो सकी है।"[1]

---

१. विद्यापति और चण्डीदास, प्रबन्ध प्रतिमा, प्रथम संस्करण, १९४० पृ० १५१।

सौन्दर्य विद्यापति के मन में सस्ता उल्लास नही वल्कि गम्भीर पीड़ा का संचार करता है, यह पीड़ा सौन्दर्य की शाश्वत शक्ति का द्योतक है, कवि बार-बार उस रूप के प्रथम दर्शन के बाद उत्पन्न वैचित्र्य का वर्णन करता है जो नायक और नायिका दोनों के हृदय को भयंकर पीड़ा से जड़ीभूत कर देता है। पीड़ा का आविर्भाव साधारण कोटि के रूप के दर्शन से नही होता। विद्यापति का व्यक्तित्व इस स्थिति का स्पष्टीकरण कर सकता है। विद्यापति ने सैकड़ो प्रकार के रूप देखे। रानियों-राजकुमारियों के, नर्तकियों के, ग्राम वालाओं के, सद्य.स्नाता नारियो के, किन्तु इस रूप ने उनके मन में एक ऐसे रूप-दर्शन की प्यास जगाई जो भोक्ता की तरह मासल रूप के सम्पर्क से तृप्ति-लाभ नही चाहता वल्कि एक ऐसी नैसर्गिक पीड़ा को जन्म देता है जो कवि के मन को व्याकुल कर देती है यह शरीर की पीडा नही है, मन की पीड़ा है—

सपनेहु न पूरल मन के साध
नयन देखल हरि एत अपराध
मन्द मनोभव मन जरे आगी
दुलभ पेम भेल पराभव लागी
अवुध सखी जन वुझए न आधी
आन औषध कर आन वेआधी
मनसिज मन के मन्दि वेवथा
छाड़ि कलेवर मानस वेथा—

सपने में हरि को देखने की साध भी पूरी न हुई। मैंने आँखों से हरि को देखा है, इतना ही मेरा अपराध है। मन्द भावनाओ की अग्नि में मन जल रहा है। लगता है यह दुर्लभ प्रेम मुझे पराभव देने के लिए ही पैदा हुआ है। भोली सखियाँ कुछ नही समझ पाती, रोग कुछ और है वे दवा कुछ और दे रही हैं। मनसिज ने तो मन की व्यवस्था ही हर ली। यह रोग शरीर का नही, मन का है।

प्रेम विद्यापति के काव्य की सवसे वड़ी प्रेरणा है। वे पूर्णतः प्रेमिक

कवि थे। सौन्दर्योपासक कवि बिना प्रेमी हुए रह ही नहीं सकता। वस्तुतः सौन्दर्य की परिभाषा ही यह है। सुन्दर उसी वस्तु को कहा जाता है जो प्रेम की वस्तु हो सके। जिस वस्तु के प्रति प्रेम न हो वह सुन्दर नही हो सकती अथवा कोई सुन्दर वस्तु बिना प्रेम की वस्तु बने रह नही सकती। गिलबर्ट मुरे (Gilbert Murray) ने लिखा है कि सौन्दर्य वह है जो देखा जाकर प्रेम का विषय बनता है। प्रेम मनुष्य की वैयक्तिक सम्पत्ति है। किन्तु यह प्रेम जब कविता या कला के माध्यम से व्यक्त होता है तो सार्वजनिक हो जाता है इसीलिए रिवेका वेस्ट का कहना है कि प्रेम और कला के बीच यही सम्बन्ध है कि प्रेम जिसे व्यक्ति की थाती बनाये है कला उसे विश्व की निधि बना देती है। प्रेम मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शुक्ल जी की भाषा में कहें तो, 'जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे, उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं।' संसार के कई महापुरुषों के जीवन में इस प्रेम ने ही प्रेरणा का कार्य किया है। प्रसिद्ध कवि दान्ते इस प्रेम को अपने जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा-शक्ति कहा करते थे। उन्होंने कहा है कि 'मैं वह हूँ जिसके जीवन में प्रेम यदि प्रोत्साहन दे तो लिखता हूँ। प्रेम मेरे अन्तर्मन में जैसे कहता है, मैं वैसे ही उसे व्यक्त करता हूँ।'[1]

राधा और कृष्ण के महत् प्रेम को समझने के लिए हमें विद्यापति के उस विश्वास को समझना होगा जिसे उन्होंने प्रेम से अर्जित किया था। विना प्रेरणा के कोई काव्य नही होता, काव्य तो क्या, संसार का कोई भी वड़ा कार्य महती प्रेरणा के विना संभव नही है। प्रेरणा हमेशा सांसारिक परिचित वस्तु से उत्पन्न होती है, किन्तु यह प्रेरणा हृदय में

---

1. I am one who when love
Inspires me, note, and in the way that he
Dictates within, I give the out word form.

एक ऐसे भाव-स्रोत को जन्म देती है जो हमारे लिए एकदम नया और शक्तिपूर्ण होता है। प्रेम की इस प्रेरणा को शेली कविता की प्राण-धारा कहा करता था। शेली ने लिखा है कि 'कविता कोई तर्क नही है कि इच्छा की और प्रक्रिया शुरू हो गई। कविता के सृजन के समय कवि-मस्तिष्क वुझे हुए कोयले की तरह रहता है, वस हवा का एक झोंका आया, एक अनजाने प्रभाव से वह उसे जगा जाता है। यह शक्ति हृदय के भीतर से उठती है, फूल के रंग की तरह जो कविता को जन्म देकर खुद खत्म हो जाती है।' क्या यह प्रेरणा कवि के मन में हमेशा के लिए वनी रहती है ? शेली कहता है 'नही, सृजन की प्रक्रिया में ही यह वहुत कुछ समाप्त होने लगती है, और संसार की सर्वश्रेष्ठ कवितायें प्रायः वही है जिनमें प्रेरणा के मूलरूप की धूमिलतम छाया ही शायद वची रह गई।'[१] प्रेम की महान् कविताओं को पढ़नेवाले सहस्रों पाठकों को क्या पता कि इस मामूली सी अनजान प्रेरणा ने कवि के मन को इतने महत् कार्य के लिए प्रेरित किया था।

संसार के अन्य श्रेष्ठ कवियों की तरह विद्यापति के विषय में भी एक किम्वदन्ती चलती है। कहा जाता है कि राजा शिवसिंह की सुन्दरी पत्नी रानी लखिमा से विद्यापति का प्रेम था। लखिमा वहुत सुन्दरी थी साथ ही वे उच्चकोटि की कवयित्री और काव्यमर्मज्ञा भी थी। कुछ संस्कृत के श्लोक लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार के एक श्लोक में विरह की व्यथा का चित्रण किया गया है। चक्रवाक कमल-नाल को तोड़कर खाना चाहता है किन्तु कमल-तन्तुओं को चन्द्रमा की किरणें समझ कर नही खाता, कमल के पत्रों पर पड़ी हुई बूँदों को तारा समझ कर प्यासे होने पर भी वह उन्हें पीता नहीं, कमलो की काली छाया में मँडराते हुए काले भँवरों को देखकर उसे संध्या का आभास होने लगता है, इस प्रकार कान्ता के विश्लेष की आशंका मात्र से ही चक्रवाक दिन को रात्रि मानता है :—

---

१. Defence of Poetry

भुक्त्वा भोक्तुं न भुंङ्क्ते कुटिल विषलतां कोटिमिन्दोर्वितर्का-
ताराकारात्तृषार्तः पिवति न पयसां विप्लुषः पत्रसंस्थाः
छायांम्भोरुहाणामलिकुलशवलां वीक्ष्य सन्ध्यासन्ध्यां
कान्ताविश्लेष-भीरूदिनमपि रजनी मन्यते चक्रवाकः

यह श्लोक ग्रियर्सन ने लखिमा ठकुरानी के विरह गीत शीर्षक से इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित कराया था। सहजिया सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ रसिक भक्तो में एक मानते है। इन सातो में प्रथम विल्वमगल है, जिन्होने यौवनारंभ में चिन्तामणि वेश्या से प्रेम किया था, बाद मे विरक्त होकर बहुत वड़े भक्त हुए। इनका विश्वास है कि इसी तरह विद्यापति का राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा से गुप्त प्रेम था।[1] बंगाली कवि नरहरि दास ने तो अपने एक पद में लिखा है कि लखिमा राधा की प्रतिमा है, जब वह आँखों के सामने होती है तब कविता शत धाराओ में फूट पड़ती है :—

लछिमा रूपिनि राधा इष्ट वस्तु जाव
जवे देखि कविता स्फुरय शत धार

संभव है लखिमा की कहानी पूरी जनश्रुति या कपोलकल्पना ही हो, यह भी संभव है कि इस कहानी में कुछ सत्य भी हो। जो भी हो इतना सत्य है कि पदावली के सर्वश्रेष्ठ गीत लखिमा और उनके पति शिवसिंह को समर्पित है। संयोग-शृंगार के अत्यन्त मधुर गीतो में विद्यापति ने लखिमा को साक्षी की तरह उपस्थित किया है। श्री खिमान विहारी मजूमदार ने लिखा है कि "पदावली के १९८ पदो मे शिवसिंह लखिमा का नाम आता है। लखिमा का नाम बहुत से पदो में शिवसिंह के साथ आया है, कुछ में केवल शिवसिंह का।" कुछ पदो में ऐसा भाव है जिसे विद्यापति इन पदों को शिवसिंह और लखिमा देवी के सामने पढ रहे हैं पर कहीं-कही ऐसा भी आता है कि शिवसिंह गाते है—

१. कीर्तिलता, बँगला संस्करण, भूमिका, पृ० १८।
२. विद्यापति पृ० १८।

राजा शिवसिंह गाम्रोलएन

लखिमा देवी उदार (पद ४०)[1]

इन पदो में एक बात का पता अवश्य लगता है कि विद्यापति का राजा-रानी के साथ सख्य-भाव का सम्बन्ध था अन्यथा इस प्रकार की शृंगारिक बातें इतने स्पष्ट ढंग से कहना कठिन होता। क्योकि प्रत्येक पद में शृंगार चेष्टाओं का वर्णन करके कवि ने कहा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और लखिमा जानते है। या लखिमा के रमण राजा शिवसिंह जानते हैं, या वे राजा शिवसिंह जानते है जो लखिमा के साथ रमण करते हैं।

प्रेम की प्रेरणा से मेरा यह तात्पर्य नहीं था कि मैं विद्यापति के जीवन के गुप्त प्रेम-व्यापारो को स्पष्ट करूँ। यह न आवश्यक है न उचित और न तो संभव ही। प्रेम की प्रेरणा का मतलब है प्रेम के विषय में कवि के विचार। वह प्रेम को किस दृष्टि से देखते है, प्रेम के विषय में उनके क्या विश्वास है, क्या धारणायें है। प्रेम के विषय में प्रत्येक कवि की भिन्न-भिन्न धारणायें होती है। बहुत से उसे केवल चिन्तन का विषय मानते है, बहुत से उसे वायवी या काल्पनिक कहते है, बहुतो के लिए इन्द्रिय-तृप्ति ही प्रेम है। इस प्रकार की मान्यताओ के कारण प्रेम के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के बारे में इनकी धारणाओ मे अन्तर आता है। विद्यापति चाक्षुष मैत्री या प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन अवश्य करते हैं। राधा और कृष्ण दोनों एक क्षण के लिए एक-दूसरे के रूप को देखकर ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसे तारक-मैत्री कहते हैं, शुक्ल जी ने इस प्रकार के प्रथम दर्शन के प्रेम को साहचर्य जनित प्रेम से हीन कोटि का बताया है। विद्यापति स्वयं प्रेम को साहचर्य का ही परिणाम मानते हैं। प्रेम के विषय में विद्यापति की धारणाएँ इतनी ऊँची है, वे इसे इतनी महत् वस्तु मानते है कि वे उसे केवल मांसल इन्द्रिय-तृप्ति का साधन समझ ही नही सकते। मै यह नही कहता कि

१. विमान विहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति में पद संख्या दी है।

विद्यापति प्लेटोनिक प्रेम के पक्षपाती थे, बिल्कुल नहीं। वे आंगिक मिलन के सुख की भी कम अभ्यर्थना नहीं करते। किन्तु यह सब शरीर-व्यापार है, प्रेम यही तक सीमित नही है। विद्यापति कहते हैं कि प्रेम तो फूल का पौधा है। इस फूल को गोपाल ले आए और फुलवारी में लगा दिया। प्रेम-पूर्ण वार्ता के जल से निरन्तर यह सीचा गया। शील और मर्यादा के घेरे बाँध कर इसकी रक्षा की गई, फूल का नन्हा पौधा प्राण के खंभे पर अवलंबित रहा। और एक दिन इसमें अभिनव प्रेम का पुष्प फूला। जो अमूल्य था, लाखों स्वर्ण मुद्रायें इसके सामने कुछ नही थीं। यह अत्यन्त सुन्दर पुष्प और भी विकसित हुआ तब दो जीव जो अलग-अलग थे, सदा के लिए एक हो गए। इस फूल को सदा निन्दा और असूया के कीड़ों से बचाया गया, साहस ने इस फल को दिया।

फूल एक फुलवारी लाओल मुरारी
जतने पटाओल सुवचन वारि
चौदिस वान्हल सीलक आरि
जिवे अवलम्वन करु अवधारि
ततहु फुलल फुल अभिनव पेम
जस मुल लहए न लाखहु हेम
अति अपरुव मेम परिणत भेल
दुइ जीव अछल एक भइ गेल
पिसुन कीट नही लागल ताहि
साहस फल देल विहि निरवाहि
विद्यापति कह सुन्दर सेहु
करये जतन फल मत होए जेहु

संयोग के दिनों में जो विद्यापति मिलन की नाना मुद्राओं के मादक वर्णन से अपने काव्य को आनन्दातिरेक से भर देते है वही विरह के दिनो में सारी सृष्टि को आठ-आठ आँसू रुलाने की क्षमता भी रखते है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि विरह के गीतों में से अधिकांश किसी राजा या

आश्रयदाता को समर्पित नहीं है। विद्यापति इन गीतों के स्वयं भोक्ता और साक्षी हैं। इन गीतों में विद्यापति की आत्मा रोती है और वे बार-बार प्रिय-मिलन की आशा बँधाकर अपनी आत्मा में रोती हुई विरहिणी को चुप कराते हैं। संभवतः ये गीत उस समय लिखे गए जब वे किसी राजा के आश्रय में न थे, दिन दुःख के थे, दरबारी वैभव और आमोद-प्रमोद से वे घिरे न थे। इस प्रकार की परिस्थिति शिवसिंह की मृत्यु के बाद पैदा हुई थी। बहुत दिनो तक वे अपने सखा राजा की मृत्यु से उदास और खिन्न रहे होंगे। इन्ही दिनों उन्होने विरह के ये गीत लिखे। पता नही इस प्रकार के विरह गीतों के निर्माण में लखिमा की स्मृतियो ने कितना योग-दान किया किन्तु इसमें शक नही कि ये गीत कवि की अन्तरात्मा की आवाज है। बहुत से लोग विद्यापति के संयोग श्रृंगार वाले पदों को देखकर ही उनके स्वभाव का विश्लेषण कर देते हैं। वे कहते है कि राधा बड़ी विदग्धा है, कामुक है। विद्यापति घोर श्रृंगारिक है, किन्तु विरह ने विद्यापति की आँखों से कितना आँसू गिराया इसे कोई नही देखता। रवीन्द्र नाथ ने चंडीदास और विद्यापति के प्रेम-गीतो की तुलना करते हुए लिखा है कि विद्यापति सुख के कवि हैं और चण्डीदास दुःख के। विद्यापति विरह में कातर हो उठते है और चण्डीदास को मिलन में भी सुख नही। विद्यापति जगत में प्रेम को ही सार मानते है और चण्डीदास प्रेम को ही जगत् समझते हैं। विद्यापति भोग के कवि थे चण्डीदास सहन के। वस्तुतः इस तरह का कथन विद्यापति की उन कविताओ पर लागू होता है जो केवल संयोग श्रृंगार की है। डा० विमान विहारी मजूमदार ने ठीक ही लिखा है कि "राजनामांकित पदो में केवल ३० पद विरह के है। ऐसे ही पदों को देखकर रवीन्द्रनाथ ने ऐसा लिखा था। राजसभा के वातावरण में जो पद नही लिखे गए थे उन्हें कवि ने अपने दुःख के दिनो मे अकेले बैठकर रचा था। उनमें गंभीरतर वेदना, निविडतर आनन्द और अतीन्द्रिय अनुभूति की छाप है।"[1] 'विद्यापति के विरह-गीत इतने कारुणिक और व्यथा से भरे है कि उन्हें खाली भोग के गीत

१. विद्यापति, पृ० ४६।

कहना उसके साथ अन्याय होगा। राधा अपने विरह में कृष्ण के सम्मिलन की आकांक्षा से पीड़ित अवश्य है किन्तु उसके हृदय की स्वाभाविक वेदना को कातरता कहना उसका अपमान करना है। राधा ऐसी कातर नहीं है। वह तो यहाँ तक कह सकती है:—

माधव हमर रहल दुर देस
केओ न कहइ सखि कुसल सनेस
युग युग जीवथु वसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नाहि दोस
हमर करम भेल विहि विपरीत
तेजलनि माधव पुरुविल प्रीत
हृदयक वेदन वान समान
आनक दुःख आन नहि जान

कृष्ण कहीं भी रहें, सुख से रहें, हम अपने दुःख को सह लेंगे, यह हमारा दुःख हमारे कर्मों का परिणाम है फिर उनका दोष क्या ? सूरदास की राधा की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है; 'जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है, वहाँ सामान्य हृदयो की पहुँच नही हो सकती।' (लोभ और प्रीति) विद्यापति इसी तरह के प्रेम की अभ्यर्थना करते हुए कहते है:

सुजन क प्रेम हेम सम तूल
दहइत कनक दिगुन होय मूल
टूटइत नहि टुट प्रेम अदभूत
जइसन बढए मृनाल क सूत

यह प्रेम कनक की तरह मूल्यवान है जो विरह की अग्नि में तप-तप कर शुद्ध हुआ है, यह प्रेम ऊपर से टूटा हुआ दिखाई पड़ सकता है, परिस्थितियाँ दो व्यक्तियो को अलग कर सकती है, किन्तु जैसे कमल नाल के टूट जाने पर उसके तन्तु नही टूटते, वैसे ही यह प्रेम कभी नहीं टूटता।

विद्यापति निराशावादी कवि नहीं थे, वहुत से लोग उनके स्तुतिपरक गीतों में आत्मग्लानि के शब्दों को देखकर यह आरोप करते हैं कि विद्यापति जीवन की अन्तिम अवस्था में निराशावादी हो गए थे। यह सत्य है कि इन पद्यों में विद्यापति के मन की घोर कातरता दिखाई पड़ती है, जैसे निम्न पद में देखिये—

तातल सैकत वारि विन्दु सम
सुत मित रमनि समाज
तोहे विसारी मन ताहि समरपिनु
अव मझु होव कोन काज
माधव हम परिनाम निरासा
तुहुं जगतारन दान दयामय
अतय तोहर विसवासा
अवधि जनम हम नींद गमायनु
जरा सिसुकत दिन गेला
निधुवन रमनि रभस रंग मातनु
तोहे भजव कोन बेला

इस प्रकार के पदों में दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहला कवि का आत्मनिवेदन जो उस काल के भक्त कवियो की परिपाटी थी। अपने को अत्यन्त गिरा हुआ, पतित नीच और कदर्य बताकर भगवान् की दया के लिए याचना करना एक प्रकार से भक्त कवियों के लिए कवि प्रौढ़ोक्ति है, कवि परिपाटी। सूर, तुलसी, आदि सभी कवियों में इस प्रकार की आत्म-ग्लानि भरी पड़ी है। विनयपत्रिका में तुलसीदास ने मानव-जीवन की शिशु-काल से जरा-काल तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कदर्यना-भरा चित्रण प्रस्तुत किया है और अन्त में कहा है कि भगवान् इस प्रकार के कृतघ्न नीच पतित जीव का तुम्हीं उद्धार कर सकते हो। सूरदास के विनय के पदों की 'घिघियाहट' पर महाप्रभु वल्लभाचार्य की ताड़ना विदित है ही। इस प्रकार की स्तुतिपरक कवितायें चाहे वह गंगा की वन्दना में हों या देवी की,

गणेश की, शंकर की, जानकी की, राधा की या दुर्गा की, सबमें यही कातरता दिखाई पड़ती है। यह कातरता जीवन की वास्तविक निराशा का परिणाम नहीं है बल्कि देवता की महिमा और भक्त की असहायता की रूढ़ अभिव्यक्ति मात्र है। इसे कवि के जीवन के यथार्थ से सम्बन्धित करने का प्रयत्न अनुचित है। क्योंकि सौन्दर्य और प्रेम का वास्तविक कवि कभी निराशावादी नहीं हो सकता। वाचा भगवान् के सामन दीनता-भरी स्तुति करता हुआ, दुनियादारी का तकाजा पूरा करता हुआ वह निरत्तर सौन्दर्य और प्रेम की प्रेरणा से अनुचालित होता रहता है।

विद्यापति के सम्मुख सम्प्रदाय या धर्म का कोई विशेष महत्व न था। आलोचकों ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए कि विद्यापति शैव थे या वैष्णव लम्बे-लम्बे तर्क दिये हैं। इन तर्कों के अंबार में यह ढूंढना तो मुश्किल हो ही गया कि विद्यापति क्या थे, जो बातें स्पष्ट सामने थीं वे भी इस कुहेलिका-जाल में छुप गईं। विद्यापति ने प्रेम के बहुत ऊँचे गीत लिखे हैं, उनके लिए मनुष्य से बड़ा और कोई पदार्थ नहीं है, शारीरिक सौन्दर्य से बड़ी और कोई निधि नहीं है। आलोचक विद्यापति की इन रचनाओं को इन्ही के आधार पर समझना नहीं चाहते। वे जानना चाहते हैं कि वे शैव हैं या वैष्णव। क्योंकि इन आलोचकों की यह मान्यता हैं कि यदि विद्यापति शैव थे तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत निश्चित ही शृंगारिक हैं क्योंकि कोई शैव भला वैष्णव-देवताओं के बारे में भक्तिपूर्ण पद क्यों लिखेगा? इस प्रश्न पर आगे विचार किया गया है। इस स्थान पर मैं विद्यापति की धार्मिक मान्यता के विषय पर कुछ भिन्न दृष्टि से विचार करना चाहता हूँ। कवि या लेखक की रचनाओं में धर्म का तत्व दो प्रकार से प्रतिफलित होता है। या तो वे रचनाएँ निश्चय ही धर्म के विषय में हों अर्थात् किसी विशेष प्रकार के धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त लिखी गई हों, जैसे प्राकृत-अपभ्रंश में लिखे हुए बहुत से जैन काव्य या संस्कृत में लिखे हुए हिन्दू धर्म-ग्रंथ आदि। इन रचनाओं में धर्म केन्द्रीय शक्ति है, बाकी वस्तुयें उसी का अनुगम करती ह। कवितायें धर्म का विषय एक

और भी तरीके से बनती है। धर्म उन कविताओं में मुख्य नहीं होता। उनमें मनुष्य के बहुत ऊपर उठे हुए मानसिक धरातल का चित्रण होता है। मनुष्य के मन का उच्चतम धरातल जब कवि के काव्य में अभिव्यक्ति पाता है तो उसे आलोचक मधुमती भूमिका की संज्ञा देते हैं। इस मधुमती भूमिका को प्राप्त कवि की रचनाओं में विश्वजनीन मानव धर्म अभिव्यक्ति पाता है। यह एक स्थिति है जिसमें कवि धर्मों के संकुचित घेरे तोड़कर देश-काल निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करता है। इस साहित्य में किसी भी धर्म की मूल बातें अर्थात् मानवीय जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस् की बातें, दिखाई पड़ सकती हैं। विद्यापति की सभी कविताओ में तो नहीं किन्तु अधिकांश में इसी धर्म की छाया है—यानी मानवधर्म की। राधा और कृष्ण किसी एक जाति या देश के नहीं हैं और न तो प्रेम किसी स्थूल सीमा में आबद्ध हो सकता है। प्रश्न हो सकता है, फिर इन कविताओं पर वैष्णव भक्ति का बिल्ला लगाना कहाँ तक उचित है? विद्यापति ने यह बिल्ला नही लगाया, उन्होंने अपनी कविता को वैष्णव भक्ति का काव्य नहीं कहा। चूंकि उनकी कविता में व्यक्त मानव-हृदय वैष्णव भक्त के हृदय से ज्यादा साम्य रखता है, इसलिए परवर्ती काल में ये कवितायें वैष्णव भक्तों द्वारा स्वीकृत होकर कीर्तन का विषय बन गयी। रागानुगा भक्ति और सांसारिक प्रेम में प्रकार का अन्तर नही होता, केवल उद्देश्य का अन्तर है। जड़ोन्मुख होकर जो भावना प्रेम की संज्ञा पाती है वही चिदोन्मुख होकर भक्ति कही जाती है। अत्यन्त श्रृंगारिक कविता भी कभी-कभी शुद्ध चित्त में भगवान् के प्रति अनन्य अनुराग लगाने का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए रूप गोस्वामी की पदावली में एक श्लोक आता है—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ा कदाम्बानिलाः
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कण्ठते

अर्थात् जो मेरा कौमार्य हरण करने वाला था वही आज मेरा पति है, आज भी वैसी ही चैत की रात है, वही विकसित मालती की गंध है, कदम्ब फूलों से सुवासित परिणत वय का वही अनिल है, मैं भी वही हूँ किन्तु जाने क्यों रेवा के तट पर कदम्ब-तरुछाया में जो सुरत-व्यापार की लीलाये हुई थी, उन्हीं में मेरा चित्त उत्कंठित हो रहा है।

यह पद महाप्रभु चैतन्य देव ने सुना तो घंटों व्याकुल रहे। इस श्लोक को पढकर महाप्रभु भावान्तर लोक में प्रविष्ट हो गए। कृष्णराज ने चैतन्य-चरितामृत में लिखा है कि जगन्नाथ क्षेत्र के वैभव और कोलाहल से अतृप्त होकर प्रभु वृन्दावन की कामना कर रहे थे, उसी समय इस श्लोक को उन्होने भावावेश में दुहराया:—

एइ श्लोक महाप्रभु पडे बार बार
स्वरूप विना केह अर्थ ना बूझे इहार
पूर्वे येन कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण
कृष्णेर दर्शन पाया आनन्दित मन
जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल
सेइ भाविष्ट हइया धुया गायोआइल
अवशेषे राधा कृष्ण कइला निवेदन
सेइ तुमि सेइ आमि सेइ नव संगम
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन
वृन्दावन उदय कराह आपन चरण
इहा लोकारण्य हाति घोड़ा रणध्वनि
ताहां पुष्पवन भृंग पिकनाद शुनि

भक्ति और सांसारिक प्रेम दोनों ही की परिणति-अवस्था में इस प्रकार की परिस्थितियाँ आती है जिनमें भक्त या प्रेमी अपने हृदय में नाना प्रकार के सुख-दु.ख मिश्रित भावों का अनुभव करते है। इन परिस्थितियो का सफल चित्रण बहुत थोड़े कवि कर पाते है क्योकि ऐसी अवस्थाओ में मनुष्य का मन नैसर्गिक सहज स्थिति में होता है जिसमें कल्मष नहीं होता, संकोच और अहं की क्षुद्र सीमा नही होती। इस प्रकार

के वर्णन में लौकिक प्रेमगत-परिस्थितियों से भक्ति की कई प्रकार की स्थितियों का साम्य दिखाई पड़ता है। विद्यापति के प्रेम-गीतों में यदि किसी शैव या शाक्त या सूफी साधक को अपनी पद्धति का कुछ साम्य नजर आये तो उसमें विद्यापति को या उन्हें शृंगारिक मानने वाले आलोचक को क्या आपत्ति हो सकती है। वैसे वैष्णव रागानुगा भक्ति से इसका ज्यादा साम्य है।

विद्यापति प्रेम और विरह के अत्यन्त गम्भीर वातावरण में रहते हुए भी काफी विनोदी और आमोदप्रिय जीव थे। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ कवि प्रेम का गान लिखते हुए, विरह की अवस्था में या असफल प्रेम की स्थिति में इतने गमगीन हो जाते हैं, ऐसा मुंह फुलाये रहते हैं कि उनको पढना भी मुश्किल हो जाता है। वर्तमान युग के बहुत से कवि इस असाध्य रोग के शिकार हैं। प्रेम के अलावा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं, प्रेम भी कुछ ढंग-ढर्रे का हो तो भी कोई बात हुई, वह प्रेम न होकर केवल प्रलाप होता है। 'वाताधिकाः कवयः भवन्ति' को वे चरितार्थ करते हैं। विद्यापति इस तरह के व्यक्ति नहीं थे। रूप देखा तो छक कर देखा, प्रेम किया तो अस्तित्व भूल कर किया, विरह में पड़े तो सौ फी सदी व्यथा को झेलने के लिये तत्पर रहे, किन्तु जब दुनिया को देखकर कुछ उसपर सोचा विचारा तो ऐसी-ऐसी चीजों पर नजर गई कि उन्होंने उनके वर्णन से पाठकों को हँसाकार लोटन कबूतर बना दिया। तरुणी नारी की सगाई किशोर से हुई तो विद्यापति ने न केवल उस युवती के मन का आक्रोश व्यक्त किया बल्कि इस प्रकार की शादी करने वाले कन्या-पिता के पास यह संदेशा भी भिजवाया कि हाल की व्यायी एक गाय भी भेज दो ताकि 'लड़िका जमाई' का पालन-पोषण हो सके। और दूसरी ओर नवयुवती की शादी किसी बूढे वर मोशाय से होने लगी तो भी विद्यापति अपना गुस्सा रोक न सके और शादी-व्याह ठीक कराने वाले उस घटक की दाढ़ी पकड़ कर घसीटवाने से बाज न आये। विनोद का रंग कभी-कभी काफी चढ़ जाता था तो देवी-देवताओं की शादियों का अच्छा मसाला मिल जाता,

औघड़ शंकर और दुकूलावेष्ठित कुमारी गौरी की शादी से मनोरंजक और विषय क्या होगा। विद्यापति ने ऐसी परिस्थितियों में पूरी बारीकी के साथ एक-एक रूढ़ि पर करारा व्यंग्य किया। वैसे मिथिला में शादी-व्याह की रंगत कुछ अनोखी रहती भी है—तब भी थी। और विद्यापति ने इसे खूब अच्छी तरह प्रयुक्त भी किया। राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों में भी इस कौतुकप्रियता का अभाव नही है, वैसे वह विनोद कुछ लोगो के लिए थोड़ा भारी पड़ता है क्योकि उसके लिए काम-कला-विदग्ध होना पहली शर्त है।

अब तक मैने विद्यापति की कुछेक वैयक्तिक विशेषताओं का उल्लेख किया जिसे उन्होंने स्वयं साधना से अर्जित किया था अथवा वे उनके व्यक्तित्व की सहज विशेषताएँ थी, परन्तु बहुत सी बातें विद्यापति के व्यक्तित्व में उस युग-विशेष की देन हैं जिसमें वे पैदा हुए थे। बहुत सी चीजें उन्हें परम्परा से मिलीं। इनमें कुछ तो ऐसी है जो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हुई, कुछ ऐसी भी है जिन्होंने व्यक्तित्व को घटाया।

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमांसा के आठवें प्रकरण में कवि के लिए पठनीय शास्त्रों का विवरण देते हुए कामशास्त्र का भी उल्लेख किया है। कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र और अर्थशास्त्र को एकत्र रखा है। इसे उन्होंने राजसिद्धान्तत्रयी कहा है।

श्रुतिः स्मृतिः इतिहासः पुराणं, प्रमाणविद्या समय विद्या राजसिद्धान्तत्रयी...

(काव्य मीमांसा, अष्टम अध्याय, पृष्ठ ८५)

ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के आस पास वात्स्यायन ने कामसूत्र का निर्माण किया। उसके बाद और भी कई आचार्यों ने इस शास्त्र के पल्लवन और विकास में अपना अमूल्य योगदान किया। रतिरहस्य, अनंगरंग, नागर-सर्वस्व आदि ग्रंथों में इस शास्त्र का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। कामशास्त्र में दो वस्तुओं पर बहुत ध्यान दिया गया। कामिनी लक्षण और कन्या-विस्रम्भण। कामिनी लक्षण का निर्माण केवल कामशास्त्र का ही विषय नही था। इसके निर्माण में सामुद्रिक शास्त्र के आचार्यों का भी

बहुत बड़ा हाथ था। हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों ही मतों के मानने वाले आचार्यों ने अपने अपने ढंग से सामुद्रिक शास्त्र लिखे। हिन्दुओं के सामुद्रिक शास्त्र प्रसिद्ध है ही। जैन लोगों ने भी सामुद्रिक पर कई ग्रंथ लिखे। जैनियो के पाँच ग्रथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। पाटण के राजमंत्री श्री जगदेव रचित सामुद्रिक तिलक, पार्श्वचन्द का हस्तकाण्ड, अज्ञात संज्ञक किसी लेखक का अर्हत चूणामणि सार (१०वी शताब्दी) उपाध्याय मेघाविजय का हस्तसंजीवन तथा किसी अज्ञात विद्वान का प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र आदि ग्रंथ जैन आचार्यो की शास्त्र-साधना के परिणाम है। ये पाँचों पुस्तकें दसवीं से बारहवी शताब्दी के बीच लिखी गईं। सामुद्रिक शास्त्रों में नर-नारी के लक्षणों पर काफी विस्तार से विचार किया गया। इन लक्षणों ने कामशास्त्र को भी प्रभावित किया। नारी के नखशिख सौन्दर्य के सभी लक्षण इन्हीं सामुद्रिक शास्त्रों के आधार पर तैयार किए गए। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी तथा देवसत्वा, गन्धर्वसत्त्वा, यक्षसत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा, आदि नारियों के भेद और लक्षण सामुद्रिक शास्त्रों और कामशास्त्रों में प्रायः समान हैं। इतना ही नही नारी के वर्ण, गंध, स्वर, गति, लावण्य, पाँव, उँगलियाँ नख, चरण, जानु, उरु, कटि, नितम्ब, वस्ति, नाभि, उदर, त्रिवली, वक्षस्थल, उरोज, हँसली, कन्धे, हाथ, नख, ग्रीवा, चिबुक, कपोल, मुख, अधर, दाँत, जिह्वा, हास्य, नाक, नेत्र, भौंह, कान, ललाट, कपाल, केश, आदि अंगो के बारीक से बारीक लक्षण नारियो के विभिन्न प्रकारों के अनुसार नाना प्रकार के बताये गये। कामशास्त्र में मध्यदेश, मालवा, सिंध, पंजाब, गुजरात, केरल, मद्रास, बगाल, उत्कल, कोशल, आदि की नारियों की प्रवृत्ति और उनके कामाचरण के विषय में भी विचार किया गया है। कन्या-विस्रंभण प्रकरण के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य की प्रशंसा, प्रणयोपचार आदि की विधियाँ बताई गयी हैं। बाला, नवोढ़ा, मुग्धा, प्रौढ़ा, आदि के प्रणयोपचार के अन्तर स्पष्ट किये गए है। नागरजनो के वर्णन दैनंदिन कामक्रम, विलास और प्रसाधन के नाना उपकरणों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इन शास्त्रो को देखने से मालूम होता है कि नायिका भेद के बीजाकुंर यहीं वर्तमान हैं। यही नही इनके अंदर प्रणय के नाना रूपों के बारे में

रूढ़ियाँ भी स्थापित हो चुकी थी। इन शास्त्रों का प्रभाव बहुत गहराई से पड़ रहा था। कामशास्त्र का मूल उद्देश्य कुछ और ही था। वात्स्यायन ने लिखा था कि काम अर्थ और धर्म दोनों का साधन है

फलभूतश्च धर्मार्थयोः (कामसूत्रम्)

वातास्यायन ने विवाह को आवश्यक बताया था और शास्त्र को वर्णाश्रम की मर्यादा और सीमा में घेर कर रखा था—

कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वाया
प्रयुज्यमान पुत्रीयो यशस्वी लौकिकश्च भवति
(कामसूत्रम्)

बाद में इस शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो गई और इसका मूल प्रयोजन इन्द्रियसुख और 'परपरिगृहीता' के प्रति आसक्ति और व्यभिचार हो गया। इन शास्त्रो में वर्णित नारी सौन्दर्य और अंगप्रत्यगो के लक्षणादि इतने लोकप्रिय हुए कि कवियो ने ज्यों का त्यो इन्हें काव्यविषयक उपकरण के रूप मे गृहीत कर लिया। सौन्दर्य चित्रण मे तथा नखशिख-वर्णन में कामशास्त्र के लक्षणो को ज्यो का त्यो अपना लिया गया। इतना ही नही कामशास्त्र के रूढ भेदोपभेदों को नारी वर्णन में पूर्ण महत्त्व दिया गया। बाला, नवोढा, मुग्धा, प्रौढ़ा आदि के वर्णन में कामशास्त्र के लक्षण काव्य के नियम बन गए और इन रूढ़ विशिष्टताओं को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण स्वरूप श्लोक आदि रचे जाने लगे। कामशास्त्र का प्रभाव चित्रकला तथा मूर्तिकला पर भी कम न पड़ा। पवित्र देव-मंदिर विचित्र मुद्राओं और आसनो के चित्रो से भर गए। नग्नमूर्तियो का निर्माण श्रेष्ठ कला माना जाने लगा।

कामशास्त्र, का प्रभाव आमुस्मिकतापरक या धर्मनिरपेक्ष साहित्य लिखनेवालो पर ही नही पड़ा। इसका प्रभाव इतना व्यापक था कि धार्मिक कवि, स्तुति या स्तोत्र लेखक भी इससे बच न सके। दुर्गा, सरस्वती, राधा, गौरी, लक्ष्मी आदि देवियो की स्तुति में उनके सौन्दर्य का चित्रण इन्ही लक्षणो पर आधारित किया गया। नवोढा और तरुणी के

सौन्दर्य-चित्रण में परिगृहीत उपमान देवियों के सौन्दर्य में भी प्रयुक्त होने लगे। बाद में मधुरा भक्ति के माननेवाले वैष्णव कवियों ने भी इसे और भी अधिक महत्त्व दिया। गीतगोविन्द में सर्वप्रथम काम-कला और हरि-स्मरण को एकत्र कर दिया गया। जयदेव ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास-कलासु कुतूहलम्
मधुर कोमलकान्त पदावली शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्

(गीतगोविन्दम् श्लोक ३)

जयदेव ने हरिस्मरण के साथ-साथ कामकला के कुतूहलों की शान्ति को भी अपनी कविता का उद्देश्य मान लिया। अर्थात् उन्होंने हरि-कीर्तन और कामशास्त्रीय शिक्षा को एक साथ ही स्वीकार किया। जयदेव ने बिना झिझक ये दोनों बातें एक साँस में कह दी। उन्हें कामशास्त्र-शिक्षा के नाम पर रंचमात्र भी संकोच न हुआ। जयदेव का गीतगोविन्द रागानुगा भक्ति सम्प्रदाय के भक्तो के लिए भागवत की तरह पूज्य है। इस ग्रंथ का महत्त्व इसी बात से समझा जा सकता है कि परवर्ती काल में कोई भी वैष्णव कीर्तन बिना इसके श्लोक-पाठ के पूरा ही नही माना जाता था। जयदेव ने ५० प्रतिशत कामकला के साथ ५० प्रतिशत हरिस्मरण का सकल्प किया था, पर हुआ क्या? हरिस्मरण का स्वर क्षीण से क्षीणतर होता गया। हरि के चरणों में निवास करनेवाले जयदेव को हरिस्मरण का जैसा भी आनन्द मिला हो, पाठको के लिए तो यह युवती की कोमल-कला की तरह ही आकृष्ट कर सका—

हरिचरण शरण जयदेव कवि भारती—
वसतु छवि युवतिरिव कोमलकलावती

(७।१०)

जयदेव के लिए उस जनता का पूरा तिरस्कार कर देना असंभव था जो गाथा सप्तसती जैसी प्रेम-विह्वल रचनाओ में ही आनन्द और मनोरंजन प्राप्त करती थी। जयदेव की विशेपता अवश्य है कि उन्होने उस प्रकार की प्रवृत्ति में, क्षीणतर ही सही, भक्ति का स्रोत्र भी अनुस्यूत कर दिया।

विद्यापति पर इस धारा का घोर प्रभाव पड़ा। उन्होंने जयदेव की तरह माधव और राधा के चरणों की वन्दना के साथ ही कामशास्त्र की शिक्षा को भी अपना उद्देश्य मान लिया। तत्कालीन कवि वस्तुतः कामशास्त्री की भूमिका अदा करना भी कवि का ही कर्त्तव्य समझने लगा था। राधा के रूप-चित्रण में विद्यापति ने सामुद्रिक और कामशास्त्र की रूढ़ उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की राशि एकत्र कर दी। प्रेम के चित्रण के बाद वे यह लिखना नहीं भूलते थे कि यह रस कोई कोई ही जानता है। अरे मूर्ख, राजा शिवसिंह इस रस को जानते है, उनसे कुछ डर नही अथवा लखिमा इस रस को जानती है। इतना ही नहीं कुछ पदो में उन्होंने कामकला शिक्षक का बाना भी धारण कर लिया है और स्पष्ट शब्दों में लिखा है:—

विद्यापति कह इह रस ठाठ
भए गुरु काम सिखाओब पाठ

अथवा.—

सुनु सुनु ए सखि वचन विसेस
आजु हम देब तोहि उपदेस

और जब विद्यापति अपना 'उपदेस' देने लगे तो वात्स्यायन और उनकी सारी शिष्य-परम्परा दाँत तले ऊँगली दबा कर खड़ी हो जाये तो कोई आश्चर्य नही। हम इसके लिए विद्यापति को दोषी नही कहते। प्रेम-काव्यों की इस परम्परा ने जयदेव के हरिस्मरण को जब कामकला के सामने घुटने टेकने को मजबूर किया तो विद्यापति जैसे दरबारी कवि जिसने हरिस्मरण का कभी संकल्प ही नही किया, इस धारा में बह जायें तो आश्चर्य क्या। किन्तु यह उनके व्यक्तित्व की एक निर्बलता जरूर है कि वे उस विकासशील संक्रमण काल में अपने को उस क्षयिष्णु प्रभाव से अलग न कर सके। वे कबीर नही हो सके तो कोई बात नही किन्तु वे मीरां हो सकते थे।

यद्यपि विद्यापति ने सामाजिक चेतना को पूर्णतः ग्रहण नहीं किया; 'लोकचेतना' शीर्षक प्रकरण में मैने विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रसंगवश

इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने जन-जीवन के साथ अपने को सम्बद्ध करने का जो कुछ भी प्रयत्न किया और उसमें जितना भी वे सफल हो सके, वह कम नहीं है। चौदहवीं शताब्दी के कवि के लिए भाषा काव्य लिखना ही एक असंभव व्यापार था। तीन सौ वर्ष बाद भी केशवदास ने 'भाखा' में काव्य लिखते वक्त जिस ग्लानि का अनुभव किया तथा तुलसीदास जैसे जनमंगल की भावना से ओतप्रोत कवि ने 'भाखभनिति' के लिए जितनी शालीन सफाई पेश की—वह सब कुछ संभव न हुआ होता यदि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने कविता को देव-वाणी की दमघोट चाहरदीवारी से बाहर न निकाला होता। यह सही है कि उन्होंने कबीर की तरह संस्कृत को कूपजल कहकर तिरस्कृत नहीं किया; किन्तु इतना तो वे मानते ही थे कि संस्कृत अब केवल बुधजन तक ही सीमित हो गई है।

सक्कय बानी बुहजन भावइ
पाअउँ रस को मम्म न पावइ
देसिल वयना रस जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओ अवहट्ठा

उन्होंने अपने राजकवि होने की मजबूरी को संस्कृत प्रशस्ति काव्य लिखकर निभाया, तत्कालीन परम्परा के अनुसार राजा के युद्ध और प्रणय का विवरण पिंगल या अवहट्ठ में उपस्थित किया किन्तु हृदय का तकाजा, जनता के प्रति उत्तरदायित्व 'देसिलवयना' के माध्यम से ही व्यक्त हुआ। विद्यापति के गीतों का पाठक इनकी जीवंत प्रवाहमयी भाषा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लोकगीतों की सुमधुर और सहज पद्धति पर लिखे गए ये गीत तत्कालीन जनमानस के अकृत्रिम दर्पण हैं। इस प्रकार की चेतना को सामाजिक यथार्थ के प्रति श्रद्धा की भावना के बिना कौन कवि ग्रहण कर सका है? इतना ही नहीं विद्यापति ने बाल-विवाह, धनकटनी नारी की दीनता, मुसलमानों के आक्रमण से उत्पन्न सामाजिक अव्यवस्था, आदि विषयों पर भी बड़ी ईमानदारी के साथ विचार किया है। १९वीं शताब्दी

के आरंभ में बाल-विवाह आदि समस्याओ पर विचार करनेवाले लोगों को हम 'रिनेंसा' के अग्रदूत कहते है; किन्तु कल्पना कीजिए चौदहवी शताब्दी के उस युग की जब विदेशी आक्रमण से संत्रस्त हिन्दू जाति अपने वचाव के लिए नाना प्रकार की किलेबंदी कर रही थी, बाल-विवाह भी उसी युग की देन है, इसमें शक नही। विद्यापति ने उस कुरीति का जो तत्कालीन विकट परिस्थितियों का परिणाम थी, क्षम्य नही माना और उसपर अपने मार्मिक किन्तु क्षोभहीन ढंग से प्रहार किया ।

लोकचेतना के प्रति उनका आदर एक और रूप में व्यक्त हुआ। हिन्दी के अद्यतन काव्य की एक प्रवृत्ति है लोकतत्त्व के परिग्रहण की। हम उन कवियो या लेखकों को साधुवाद देते है जो जनता के लोक गीतों या लोककथाओ को अपने काव्य में स्थान देते है। लोकगीतो या लोककथाओं के परिग्रहण में भी कभी-कभी गड़बड़ी पैदा होने की आशंका रहती है। लोकगीत या लोकतत्त्वों का अध्येता जब इन गीतों में जनता के प्रेम या दर्द की सहज विवृति के साथ-साथ अन्धविश्वासो एवं रूढियों के प्रति व्यक्त भयमिश्रित श्रद्धा को भी चुपचाप ग्रहण कर लेते है तब लोकगीतो के प्रयोग से स्वस्थ प्रवृत्तियों को बल के स्थान पर बाधा ही मिलती है। लोकतत्त्वो का प्रयोग शैली और वस्तु दोनों ही दृष्टियो से काव्य को उन्नयनशील, कृत्रिमताहीन तथा जन-मानस के साथ सम्बद्ध बनाने में समक्ष होता है। उपमायें, उत्प्रेक्षा तथा अन्य अलंकारों के प्रयोग में लोक-तत्त्व से प्रभावित उपमान ग्रहण किये जा सकते हैं। यही नही कभी-कभी लोकतत्त्वो का परिग्रहण साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियो से प्रभावित विचार-सरणि को भी वदलने में सहायक होता है। विद्यापति ने लोक-तत्त्वों के ग्रहण में काफी पटुता और कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने गीतो के छन्द, धुन, स्वर तथा शब्द-विन्यास आदि लोकजीवन से लिये, साथ ही विरह और संयोग के वर्णनो में भी लोक-जीवन की मान्यताओ का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए वालक जन्म के अवसर पर होने वाले टोने-टोटके, तथा अन्य लौकिक संस्कारों का वर्णन विद्यापति ने वसन्त को वालक मानकर उसके जन्म के अवसर पर प्रस्तुत किया है—

मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कोमल पंखरी लाई
पग्रोनार तोरि सूत बाँधल कटि
केसरि कएल वधनाई

पूजा, व्रत आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले स्तुति-गानों में भी अनेक लोक-गीतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संयोग और वियोग के गीतों में तो विद्यापति ने अभिजात संस्कारो को नीरस समझकर एकदम हटा दिया है। उनके स्थान पर उन्होंने सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के लोक-जीवन से सपृक्त प्रेम-व्यापार का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। लोकगीत का एक धुन देखिए.—

के पतिया लय जायत रे
मोरा पियतम पास
हिय नहि सहए असह दुख रे
भेल साग्रोन मास
एकसरि भवन पिया बिनु रे
मोरा रहलो न जाय
सखि अनकर दुख दारुन रे
जग के पतियाय
मोर मन हरि हरि लए गेल रे
अपनो मन गेल
गोकुल तज मधुपुर वस रे
कत अपजस लेल
विद्यापति कवि गाम्रोल रे
धनि धरु हिय आस
आम्रोत तोर मनभावन रे
एहि कातिक मास

ठीक इसी भाव के प्रायः इन्ही शब्दो के कई गीत भोजपुरी, अवधी तथा अन्य लोक भाषाओ में आज भी चलते है। कहीं-कही तो विद्यापति ने

लोकगीत को ज्यों का त्यों रख दिया है। या हो सकता है कि उन्ही का लिखा हुआ गीत शुद्ध लोकगीत की तरह प्रिय होने के कारण लोकगीत ही प्रतीत होता है। इन गीतो में दर्द की इतनी तीव्र व्यंजना इसीलिए सभव हो सकी है कि कवि ने विरहिणी के मुख से निकलनेवाले शब्दो को पहचाना है। विरहिणी नायिका छाती फटने की व्यंजना कई शब्दों मे भिन्न तरह से कर सकती है; पर

मधुपुर मोहन गेल रे
मोरा विहरत छाती
गोपी सकल विसरलेनि रे
जत छल अहिवाती

विहरत की तुलना का दूसरा शब्द मिलना कठिन है। यह ऐसा शब्द है जो दर्द की अन्त.सलिला में जाने कितने समय तक बहते-टकराते घिस-घिसकर चिकने पत्थर की तरह पारदर्शी हो गया है, इस शब्द में अभिधार्थ से कही ज्यादा भाव सन्निहित हो गया है।

लोकगीत कभी भी निराशावादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय नही देते। विरहिणी नारी के दुख को कवि समझता है इसीलिए लोकगीतों की आशावादी प्रवृति के अनुकूल ही वह प्रत्येक पद में कहता है कि धनि, तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर, तेरे प्रिय शीघ्र आयेंगे, या इस कातिक मास में ही आ जायेंगे, आदि आदि।

विद्यापति पूर्णत: गीतात्मक (Lyrical) व्यक्तित्व के पुरुष थे। संगीतमयता और अपने व्यक्तित्व को गीतों में लय करने की तन्मयता विद्यापति के नैसर्गिक गुण है। उन्होने संस्कृत और अवहट्ठ की कतिपय रचनाओ में प्रबंधकार कवि के कौशल का परिचय दिया है किन्तु जैसा मैंने पहले ही कहा, यह दरबारी कवि के उत्तरदायित्व का निर्वाह मात्र है। विद्यापति का व्यक्तित्व केवल गीतो में ही व्यक्त हो सकता था। एक ऐसा व्यक्तित्व जो सौन्दर्य की भाव-लहरियों से स्पन्दित था, प्रेम-बाँसुरी की जड़ीभूतकारिणी माधुरी से प्लावित था, तथा जो विरह के

मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कोमल पंखरी लाई
पत्रोनार तोरि सूत बाँधल कटि
केसरि कएल वधनाई

पूजा, व्रत आदि के अवसरो पर गाये जाने वाले स्तुति-गानों में भी अनेक लोक-गीतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संयोग और वियोग के गीतो में तो विद्यापति ने अभिजात संस्कारो को नीरस समझकर एकदम हटा दिया है। उनके स्थान पर उन्होने सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के लोक-जीवन से संपृक्त प्रेम-व्यापार का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। लोकगीत का एक धुन देखिए:—

के पतिया लय जायत रे
मोरा पियतम पास
हिय नहि सहए असह दुख रे
भेल साओन मास
एकसरि भवन पिया बिनु रे
मोरा रहलो न जाय
सखि अनकर दुख दारुन रे
जग के पतियाय
मोर मन हरि हरि लए गेल रे
अपनो मन गेल
गोकुल तज मधुपुर बस रे
कत अपजस लेल
विद्यापति कवि गाओल रे
धनि धरु हिय आस
आओत तोर मनभावन रे
एहि कातिक मास

ठीक इसी भाव के प्राय इन्ही शब्दों के कई गीत भोजपुरी, अवधी तथा अन्य लोक भाषाओं में आज भी चलते हैं। कही-कही तो विद्यापति ने

लोकगीत को ज्यों का त्यों रख दिया है। या हो सकता है कि उन्ही का लिखा हुआ गीत शुद्ध लोकगीत की तरह प्रिय होने के कारण लोकगीत ही प्रतीत होता है। इन गीतों में दर्द की इतनी तीव्र व्यंजना इसीलिए सभव हो सकी है कि कवि ने विरहिणी के मुख से निकलनेवाले शब्दो को पहचाना है। विरहिणी नायिका छाती फटने की व्यंजना कई शब्दों में भिन्न तरह से कर सकती है; पर

मधुपुर मोहन गेल रे
मोरा विहरत छाती
गोपी सकल विसरलेनि रे
जत छल अहिवाती

विहरत की तुलना का दूसरा शब्द मिलना कठिन है। यह ऐसा शब्द है जो दर्द की अन्त.सलिला में जाने कितने समय तक बहते-टकराते घिस-घिसकर चिकने पत्थर की तरह पारदर्शी हो गया है, इस शब्द में अभिधार्थ से कही ज्यादा भाव सन्निहित हो गया है।

लोकगीत कभी भी निराशावादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देते। विरहिणी नारी के दुख को कवि समझता है इसीलिए लोकगीतों की आशावादी प्रवृति के अनुकूल ही वह प्रत्येक पद में कहता है कि धनि, तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर, तेरे प्रिय शीघ्र आयेंगे, या इस कातिक मास में ही आ जायेंगे, आदि आदि।

विद्यापति पूर्णतः गीतात्मक (Lyrical) व्यक्तित्व के पुरुष थे। संगीतमयता और अपने व्यक्तित्व को गीतों में लय करने की तन्मयता विद्यापति के नैसर्गिक गुण हैं। उन्होने संस्कृत और अवहट्ठ की कतिपय रचनाओ मे प्रबंधकार कवि के कौशल का परिचय दिया है किन्तु जैसा मैंने पहले ही कहा, यह दरबारी कवि के उत्तरदायित्व का निर्वाह मात्र है। विद्यापति का व्यक्तित्व केवल गीतों में ही व्यक्त हो सकता था। एक ऐसा व्यक्तित्व जो सौन्दर्य की भाव-लहरियो से स्पन्दित था, प्रेम-बाँसुरी की जड़ीभूतकारिणी माधुरी से प्लावित था, तथा जो विरह के

चम्पा की तीखी गंध से व्याकुलित था केवल अपने को लघु-लघु गीतों में ही व्यक्त कर सकता था। दण्डनीति के पंडित, भूपरिक्रमा के लेखक के व्यक्तित्व में विचार-कर्कशता और तर्क की पौरुषता अवश्य थी किन्तु यह उस व्यक्तित्व का हृदय नही है, कलेवर है जिसकी रूक्षता और उत्तप्तता के बीच उनके हृदय की सरस भाव-धारा सुरक्षित नहीं। विद्यापति की राधा वस्तुतः सौन्दर्य का स्तवक है। इकहरे भाव-चित्रों की चित्रपटी है, वह एक ऊँची रुचि के कलाकार की तूलिका से निर्मित चित्रो का अलवम है, उसमें अजन्ता के भित्तिचित्रों का गांभीर्य और विशालता नही उसमें खजुराहो और भुवनेश्वर के मंदिरों में निर्मित मिथुन नरनारी के खण्डित व्यक्तित्व के छायाङ्कन का प्रभाव है। विद्यापति के गीतो में एक क्षण को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न है। एक ऐसा क्षण जो अपनी लघु स्थिति में जीवन की समग्रता का पूरा आभास तो नहीं दे सकता किन्तु जो जीवन के किसी एक हिस्से को सदा के लिए उद्भासित करने के लिए समर्थ होता है। प्रबधकार कवि जीवन का पूरा चित्रण इसी क्षण की अनुभूति को प्रस्तुत करने के लिए किया करता है जबकि विद्यापति उस क्षण में ही जीवन देख लेने के अभ्यासी है। उनके गीत शबनम की बूँदो की तरह दिव्य और पारदर्शी हैं किन्तु उन्ही की तरह उनका अस्तित्व भी केवल रुचि-सम्पन्न हृदयों में ही हो सकता है।

विद्यापति का प्रभाव परवर्ती काल पर कई रूपों में पड़ा। अपनी मानवी अनुभूति और देश-काल-निरपेक्ष कलाकारिता के बल पर उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जिसने भक्तों को वैष्णवी भक्ति का सुमधुर गान दिया, रसिकों को कलापूर्ण प्रणय की भावभंगिमा, असंख्य विरही-जनों के कान्ताविश्लेष दुख से पीड़ित मन को सँभालने की ताकत, युवको को नारी का मादक मांसल सौंदर्य तथा वृद्धों को अपने जीवन के अन्तिम काल में आत्म-ग्लानि पूर्ण मनसे ईश-वन्दना के लिए स्तुतियाँ प्रदान कीं। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि विद्यापति का प्रभाव तुलसीदास से भी व्यापक है क्योकि उनके पाठक केवल हिन्दी क्षेत्र के ही लोग नही बल्कि

असम, बगाल और उड़ीसा के भी हैं। तुलसीदास का प्रभाव कुछ भिन्न तरह का है। यह प्रभाव धर्म के नियमों की तरह बुद्धि-गम्य है, संसार के दु:खों से आकुल जन के लिए तुलसीदास शास्त्रज्ञ किन्तु सहृदय धर्मगुरु हैं। विद्यापति भिन्न हैं, उनकी कविता हृदय को चेतावनी नही, प्यार देती है। विद्यापति के गीतों की शैली निराली है। विद्यापति की कविता ने असम, बंगाल के व्रजवुलि कवियों को न केवल प्रभावित किया बल्कि वह इस प्रकार के काव्य लिखने का आदर्श और प्रेरणा भी बनी रही। इसने पिछले खेवे के व्रजभाषा कवियों को प्रभावित नहीं किया ऐसा कुछेक विद्वान् मानते हैं। किन्तु व्रजभाषा कविता के विकास में बंगाली गोस्वामियों का प्रभाव कम न था। चैतन्य के वृन्दावन आगमन के समय न केवल रागानुगा भक्ति की अनन्तव्यापिनी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, साथ ही गीत-गोविन्द के श्लोक और विद्यापति के पद जो महाप्रभु को बहुत प्रिय थे, वृन्दावन आये। उसके पहले भी विद्यापति से प्रभावित कितने संत वृन्दावन आ चुके थे। रूप गोस्वामी, शंकरदेव आदि संत विद्यापति से अपरिचित न थे। विद्यापति के सम्बन्ध में ग्रियर्सन की यह श्रद्धाञ्जलि उचित ही है—"हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण से विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो, कृष्ण प्रेम की स्तुतियो के प्रति जो हमारे लिए इस भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे तो भी विद्यापति के गीतो के प्रति जिनमे राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है, लोगो की आस्था और प्रेम कभी कम न होगा।

काल-निर्णय

भारत के अन्य बहुत से श्रेष्ठ कवियो की भाँति विद्यापति का तिथि-काल भी अद्यावधि अनुमान का विषय बना हुआ है। यद्यपि विद्यापति का सम्बन्ध एक विशिष्ट राजघराने से था, और इस कारण वे मात्र कवि ही नही बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते है, किन्तु अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नही हो सका है, जिस पर मतैक्य हो सके।

विद्यापति की जीवन-तिथि का कही कोई उल्लेख नही मिलता। अतः जीवन-तिथि के निर्धारण का कार्य मात्र अनुमान का विषय रह जाता है। विद्यापति के पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गए थे। उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल से कम तो क्या रही होगी। कीर्तिलता से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में असलान द्वारा मारे गए। इस आधार पर चाहें तो कह सकते हैं कि विद्यापति यदि उस समय दस वारह साल के थे तो उनका जन्म लक्ष्मण-सम्वत् २४२ के आसपास हुआ होगा। सबसे पहले श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति-पदावली (बँगला संस्करण) की भूमिका में लिखा कि २४३ सम्वत् को राजा शिवसिंह का जन्म-काल मान लेने पर हम मान सकते है कि कवि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण संवत् २४१ के आसपास हुआ होगा। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवसिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्यापति अवस्था में इनसे दो साल बडे थे। इसी के आधार पर विद्यापति का जन्मसंवत् २४१ (लक्ष्मण) में अर्थात् ईस्वी सन् १३६० में हुआ, ऐसा मान लिया गया।

जन्म-तिथि-निर्धारण के विषय में किसी बाह्य साक्ष्य के अभाव की अवस्था मे हमे अन्तःसाक्ष्य पर विचार करना चाहिए। कीर्तिलता पुस्तक से यह मालूम नही होता है कि यह विद्यापति की प्रारम्भिक रचनाओं में एक है। विद्यापति ने इस ग्रन्थ में अपनी कविता को बालचन्द्र की तरह कहा है—

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ (२।६-१२)

इस पद से ऐसा ध्वनित है कि इसके पहले विद्यापति की कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाश में नही आई थी। पर कवि की इन पंक्तियों से अपनी कविता के विषय में उनका विश्वास झलकता है और यह उक्ति यों ही कही गई नहीं मालूम होती। कवि कहता है कि यदि मेरी कविता रसपूर्ण होगी तो जो भी सुनेगा, प्रशंसा करेगा। जो सज्जन है, काव्य रस के मर्मज्ञ है, वे इसे पसन्द करेंगे; किन्तु जो स्वभावेन असूया-वृत्ति के है वे निन्दा करेंगे ही। इस निन्दावाली पंक्ति से कुछ लोग सोच सकते है कि किसी प्रारंभिक रचना की निन्दा हुई होगी। पर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा कोई नई बात नही, यह मात्र कवि परिपाटी है। यहाँ बालचन्द्र निष्कलंकता और पूजार्हता घोषित करने के लिए प्रयुक्त लगता है।

अब यदि हमें कीर्तिलता के निर्माण का समय मालूम हो जाय तो हम सहज ही अनुमान कर सकते है कि विद्यापति उस समय प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। कीर्तिलता के कथा-पुरुषो में कीर्तिसिंह मुख्य है। कीर्तिलता पुस्तक महाराज कीर्त्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए लिखी गई थी। कीर्त्तिलता से यह भी मालूम होता है कि कीर्त्तिसिंह ने जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का राज्य प्राप्त किया, जिसे लक्ष्मण सम्वत् २५२ मे मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके हस्तगत कर लिया था। इस कथा में दो घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व

की आती है। पहली तो असलान द्वारा राजा गणेश्वर का वध और दूसरी इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार।

लक्ष्मण सेन सम्वत् कब प्रारम्भ हुआ, इस पर भी विवाद है। इस समस्या पर कई प्रसिद्ध इतिहास-विशेषज्ञों ने विचार किया है, परन्तु अब तक कोई निश्चित तिथि पर सबका मतैक्य नही है। श्री कीलहार्न ने इस विषय पर बड़े परिश्रम के साथ विचार किया।[1] उन्होंने मिथिला की छः पुरानी पाण्डुलिपियो के आधार पर यह विचार किया कि लक्ष्मण-सम्वत् को १०४१ शाके या १११९ ईस्वी सन् में प्रथम प्रचलित मानते से पांडुलिपियों में अंकित तिथियाँ प्रायः ठीक बैठ जाती है। छः पाडु-लिपियो में एक को छोड़कर बाकी की तिथियो में गड़बड़ी नही मालूम होती। पश्चात् श्री जायसवाल ने डेढ़ दर्जन के लगभग प्राचीन मैथिल पाडुलिपियों की जाँच करके यह मत दिया कि लक्ष्मण सेन सम्वत् मे १११९ जोड़ने पर हम तत्कालीन ईस्वी साल का पता लगा सकते है। उन्होंने यह भी कहा कि ऊपर की संख्या केवल कर्णाट या ओइनीवार वंश तक के ऐतिहासिक कागज-पत्रों की तिथियों के लिए ही सही है बाद की ऐतिहासिक तिथियों की जानकारी के लिए उक्त संख्या में क्रमशः दो वर्ष कम कर देना होगा, यानी जायसवाल के मत से १५३० ईस्वी के पहले की तिथियों के लिए लक्ष्मण सम्वत् में १११९ जोड़ने से तत्कालीन ईस्वी सन् का पता लगेगा किन्तु बाद की तिथियो के लिए ११०९ जोड़ना आवश्यक होगा।[2] बहुत से विद्वान् लक्ष्मण-सम्वत् का प्रारम्भ ११०६ में ही मानते है। इस तरह ११०६ से १११९ तक के काल मे अनिश्चित ढंग से कभी लक्ष्मण-सम्वत् का आरम्भ बताया जाता है। ऐसी स्थिति में २५२ लक्ष्मण यानी राजा गणेश्वर की मृत्यु का वर्ष १३५८ ईस्वी से १३७१ के बीच में पड़ेगा।

दूसरी ऐतिहासिक घटना इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार है। जौनपुर में इब्राहिम शाह नाम का मुसलमान शासक अवश्य

१. इंडियन ऐंटिक्वेरी भाग १९, सन् १८९० ई०, पृ० ७

२. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृ० २० एफ० एफ०।

था और उसका राज्य-काल भी निश्चित है। १४०२ ईस्वी मे इब्राहिम शाह गद्दी पर बैठा। तभी कीर्तिसिंह के आवेदन पर वह तिरहुत में असलान को दण्ड देने गया होगा। अतः इब्राहिम शाह के तिरहुत जाने का समय १४०२ ईस्वी के पहले नही हो सकता, यह ध्रुव सत्य है।

ज्यादा से ज्यादा १३७१ में गणेश्वर राय की मृत्यु और उसके ३१ वर्ष के बाद इब्राहिम शाह का मिथिला आगमन बहुत से विद्वानो को खटकता है। इसलिए इस व्यवधान की समाप्त करने के लिए कई तरह के अनुमान लगाए जाते है।

सबसे पहले डा० जायसवाल को यह व्यवधान खटका और उन्होंने इसको दूर करने के लिए एक नया उपाय निकाला। कीर्तिलता में २५२ लक्ष्मण सम्वत् की सूचना देनेवाला पद्य इस प्रकार है—

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पख्ख पंच वे (की० २।४)

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ किया था कि जब लक्ष्मण सेन का २५२ लिखित हुआ। जायसवाल ने इसे ठीक नही माना और उन्होंने 'ज बे' का अर्थ ५२ किया और इसे २५२ में जोड़कर इस वर्ष की संख्या ३०४ लक्ष्मण सेन ठीक किया अर्थात् १४२३ ईस्वी।[1]

'जबे' स्पष्ट रूप से समय सूचक क्रियाविशेषण अव्यय है, इसे खीचतान करके वर्ष-गणना का माध्यम बनाना उचित नही जान पड़ता। वस्तुतः जो समय-व्यवधान जायसवाल को खटक रहा था, वह सत्य था और ३१ वर्ष के बाद ही इब्राहिम शाह तिरहुत आया, इसमें कोई गड़बड़ी नही मालूम होती। उलटे जायसवाल जी की नई गणना से कई ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उन्ही के बताए काल को सही मानें तो राजा कीर्त्तिसिंह १४२३ या २४ ईस्वी में गद्दी पर बैठे होगे। ऐतिहासिकता यह है कि राजा शिवसिंह को २९१ लक्ष्मण-सम्वत् में राजाधिराज कहा गया है। यदि गणेश्वर ३०४ लक्ष्मण-सम्वत् में मरे, जबकि वे स्वयं

१. जायसवाल, दि जर्नल आव बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भाग १३, पृ० २९९।

राजाधिराज थे, तो शिवसिंह का उनके पहले राजाधिराज हो जाना असत्य हो जाता है।

इधर समय के इस व्यवधान पर डा० सुभद्र झा ने भी गंभीरता से विचार किया है।[1] उन्होंने डा० जायसवाल के मत को ठीक नही माना है और लक्ष्मण सम्वत् २५२ में राजा गणेश्वर की मृत्यु स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने कहा है कि मृत्यु के वाद ही कीर्त्तिसिंह अपने भाई के साथ अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिए इब्राहिम शाह के पास गए। चूँकि जौनपुर में इब्राहिम शाह नामक कोई शासक १४०२ के पहले नहीं हुआ इसलिए डा० सुभद्र झा ने माना है कि कीर्त्तिसिंह जौनपुर नही जोनापुर गए जो लिपिकार की गलती से जोइनिपुर के स्थान पर लिखा गया है। उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन की रचना (टेस्ट आव् मैन, टेल्स नं० २–४१) मे प्रयुक्त 'योगिनीपुर को' जिसे ग्रियर्सन ने पुरानी दिल्ली कहा है, जोनापुर का सही रूप बताया है। डा० सुभद्र झा को योगिनीपुर के पक्ष में कीर्त्तिलता में ही प्रमाण भी मिल गया।

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल जञ्नोन नीर पखारिआ (की० २.७६)

श्री झा का कहना है कि इस पंक्ति में 'जञ्नोन' शब्द का अर्थ यमुना है। विद्यापति के पदो में 'जञ्नुन' और जञ्नुनि' दो शब्द मिलते हैं, जिनका अर्थ यमुना है। ऐसी स्थिति में उक्त पंक्ति का अर्थ होगा— 'नगर, जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला की तरह मालूम होता था।' तय है कि ऐसी अवस्था में यह शहर जौनपुर नही हो सकता। यह अवश्य दिल्ली था किन्तु दिल्ली में डा० झा को उस समय के किसी इब्राहिम शाह का पता नही चला, इसलिए उनका कहना है कि इब्राहिम शाह अवश्य फीरोज तुगलक का कोई अप्रसिद्ध सेनापति रहा होगा। फीरोजशाह और भोगीश्वर का सम्वन्ध भी यहाँ एक प्रमाण हो सकता है (कीर्त्ति०) किन्तु कीर्त्तिसिंह ने कीतिलता में कई जगह इब्राहिम शाह को 'वादशाह' या 'सुल्तान' कहा है, फिर एक अप्रसिद्ध सेनापति को ऐसा

---

१. सुभद्र झा, सांग्स आव विद्यापति, भूमिका, पृ० ४१–४२।

कहना ठीक नही मालूम होता । इस कठिनाई को श्री झा ने दूर कर दिया है। उनका कहना है कि आदर के लिए ऐसा कहा जा सकता है। जैसा मिथिला में राजा के भाई, या राजघराने के किसी व्यक्ति को 'राजाधिराज' कह दिया जाता है।

इस तरह झा के मत से जोनापुर, योगिनीपुर (पुरानी दिल्ली) था जो जव्नोन (यमुना) के नीर से प्रक्षालित था और जहाँ फीरोजशाह बादशाह था जिसका सेनापति कोई अप्रसिद्ध इब्राहिम शाह था जिसे कीर्त्तिसिंह आदर के लिए बादशाह भी कहा करते थे।

इस दूरारूढ कल्पना के लिए डा० सुभद्र झा के पास दो आधार हैं। पहला ग्रियर्सन के टेस्ट आव् मैन की दो कहानियो मे आया योगिनीपुर शब्द जिसे उन्होने पुरानी दिल्ली का कथा कहानियो में आनेवाला नाम बताया है। प्राचीन पुस्तकों में कई स्थानों पर दिल्ली का नाम योगिनीपुर बताया गया है। किन्तु इसका 'जोनापुर' हो जाना अवश्य कठिन है।

अब रहा शब्द 'जव्नोन' जिसे डा० झा ने यमुना कहा है। प्राकृत में 'यमुना का' 'जउणा' हो जाता है (प्राकृत व्याकरण ४।१।१७८) इसलिए 'जव्नोन' हो सकना नितान्त असम्भव तो नही है। पर देखना होगा कि वस्तुतः यह शब्द है क्या ? कीर्त्तिलता में एक पंक्ति आती है—

फरमान भेलि, कव्नोण साहि (३।२०)

यहाँ 'कव्नोण' का अर्थ है 'कौन'। जिसका अपभ्रंश में 'कवण' रूप मिलता है। कीर्त्तिलता में ही कवण (१।१३), कमण (२।२५३) रूप मिलते है। यह कव्नोन 'कवण' 'क. पुनः' का विकसित रूप है।

इसी तरह 'जव्नोन' जिसका अर्थ है जौन यानी जो। 'जवन' का प्रयोग तो आज भी पूर्वी हिन्दी में पाया जाता है। कवण, कओन की तरह ही जवण, जओन रूप भी मिलते हैं। ऐसा ही एक शब्द और है।

जेव्नोन दरवार मेव्नोणे (२।२३९) यानी जिस दरवार में। बाबूराम सक्सेना ने इसकी व्युत्पत्ति (जेव्नोन ∠ जेमुना) से की है।

इस तरह हमने देखा कि यहाँ जेग्रोन का अर्थ यमुना नदी नहीं है। सक्सेना द्वारा सांकेतित 'ख' प्रति में स्पष्टत: 'जौन' लिखा हुआ है।

इब्राहिम शाह की जैसी निराधार कल्पना डा० सुभद्र झा ने की है, वह तो हास्यास्पद कोटि तक पहुँच जाती है। कीर्त्तिलता में जिस इब्राहिम शाह का जिक्र है वह जौनपुर (उत्तरप्रदेश) का प्रसिद्ध इब्राहिम शाह ही था। राजा गणेश्वर की मृत्यु १३७१ ई० में हुई और कीर्त्तिसिंह इब्राहिम शाह को १४०२ ई० में तिरहुत ले आए, इसमें कोई गड़बड़ी नही है। ३१ वर्ष के मध्यान्तरित समय में कीर्त्तिसिंह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे, और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी अपेक्षा होती है। उस समय की मिथिला के विषय में विद्यापति ने लिखा है कि चारों ओर अराजकता फैली थी, ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यो ने स्वामियो को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गए, काम-धन्धे ठप हो गए। जाति-अजाति में शादियाँ होने लगी, कोई काव्य-रस का समझनेवाला न रहा, कवि लोग भिखारी होकर इधर-उधर घूमते रहे। जाहिर है, ऐसी अवस्था तुरन्त नही हो जाती। इस तरह के सांस्कृतिक विनिपात में कुछ समय लगता ही है। इस तरह की संस्कारहीनता एक साल में ही नहीं आ जाती, तय है कि इस प्रकार तिरहुत से गुणों के तिरोहित होने में कुछ समय लगा होगा।

अक्खर रस बुज्झनिहार नहि कवि कुल भमि भिक्खारि भउं
तिरहुत तिरोहित सव्व गुणे रा' गणेस जव सग्ग गउं
(२।१४-१५)

विद्यापति भी उस समय छोटे रहे होंगे, जौनपुर के वर्णन से लगता है कि विद्यापति ने नगर देखा था, संभवत: राजा के साथ गए हों, क्योंकि जौनपुर का ऐसा बिम्बपूर्ण चित्रण बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के सम्भव नही है। ये सब दस-ग्यारह वर्ष के विद्यापति से तो कभी सम्भव नहीं हो सकता। मेरा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की अवस्था पचीस-

तीस के आसपास रही होगी, इसी से मैंने पहले ही कहा कि कीर्त्तिलता को प्रथम रचना मानना ठीक नही है। इस तरह विद्यापति का जन्म १३७५ ईस्वी के आसपास सम्भव मालूम होता है। गणेश्वर के दरबार में गणपति ठाकुर के जाने-आने की बात केवल जनश्रुति पर ही आधारित है। इसलिए गणेश्वर की मृत्यु के समय विद्यापति का होना प्रमाणित नही होता।

इब्राहिम शाह के सम्बन्ध में एक और भी ऐतिहासिक सत्य कीर्त्तिलता में सुरक्षित है। कीर्त्तिलता में विद्यापति लिखते हैं कि कुमार कीर्त्तिसिंह और वीर सिंह के निवेदन पर राजा गणेश्वर के हत्यारे असलान को दण्ड देने के लिए इब्राहिम शाह की सेना तैयार हुई, किन्तु भाग्य की लेखा को कौन टारे, सेना सजी थी पूरब जाने के लिए किन्तु चली पश्चिम।

पुव्वे सेना सज्जियउ पश्चिम हुअउ पयान
आण करइते आण भउ विहि चरित्त को जान (३।४८-४९)

तारीख-ए-मुबारकशाही से पता चलता है कि १४०१ ईस्वी में ज्योंही सुल्तान इब्राहिम शाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा, दिल्ली के सुलतान महमूद और उसके सेनापति इकबाल ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इब्राहिम एक वृहद् सेना लेकर उसके साथ युद्ध करने गया।[1] इसी घटना की ओर कीर्त्तिलता में संकेत किया गया है। राजकुमारों की प्रार्थना पर इब्राहिम तिरहुत जाने को तैयार तो हुआ, किन्तु उपर्युक्त घटना के कारण उसे पश्चिम जाना पड़ा। लाचार दोनों भाई इब्राहिम शाह की सेना के साथ-साथ बहुत दिनों तक घूमते रहे। उनकी करुण अवस्था का अत्यन्त हृदय-विदारक चित्रण विद्यापति ने किया है। उनके पास न अन्न था, न वस्त्र, घोड़ों के लिए घास तक नही मिलतीं। शरीर सूख कर काँटा हो गया, वे गिन-गिन कर उपवास करने लगे। अपने नायकों की इस विपन्न अवस्था का चित्रण विद्यापति ने काल्पनिक करुणोत्पादन के लिए नहीं किया है बल्कि वह एक ऐतिहासिक सत्य है।

---

१. तारीख-ए-मुबारकशाही डा० कमलकृष्ण वसु का अनुवाद पृ० २६६-६७।

४—१४०२-१४०४ ईस्वी के बीच इब्राहिम शाह द्वारा कीर्तिसिंह को मिथिला का सिंहासन प्रदान और उसी समय कीर्त्तिलता की रचना।

५—१४१० ईस्वी में विद्यापति के आदेश से 'काव्यप्रकाशविवेक' की पोथी की अनुलिपि। इसी समय कवि अलंकार शास्त्र का अध्यापन करते थे। इसी समय पुरुष परीक्षा की रचना और देवसिंह की मृत्यु के पहले अथवा पश्चात् कीर्त्तिपताका की रचना।

६—१४१०-१४१४ ईस्वी के बीच शिवसिंह के राज्यकाल में दो सौ पदों की रचना।

७—१४१८ ईस्वी में द्रोणवर के अधिपति पुरादित्य के आश्रय में राजबनौली में लिखनावली की रचना।

८—१४२८ ईस्वी मे इसी राजबनौली में विद्यापति द्वारा भागवत की अनुलिपि को समाप्त करना।

९—१४३०-४० ईस्वी के बीच पद्मसिंह और विश्वास देवी के नाम से एक पद की रचना और शैवसर्वस्वसार और गंगा-वाक्यावली की रचना।

१०—१४४०-६० ईस्वी के बीच विभागसागर, दान-वाक्यावली और दुर्गाभक्तितरंगिणी की रचना।

११—१४६० ईस्वी में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मण-सर्वस्व का अध्यापन।

इस दिशा में 'सर्वे रिपोर्ट' के अनुशीलन के समय मुझे लक्खनसेनि कवि की कुछ पक्तियाँ दिखाई पड़ी। लखनसेनि कवि का रचना-काल १४८१ सम्वत् दिया हुआ है, यानी १४२४ ईस्वी। रचनाकार जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह का समकालीन है, और उसने बादशाह के प्रताप की प्रशंसा भी की है, यही नही तत्कालीन भारत की अवस्था का जो चित्रण लखनसेनि ने खीचा है वह आश्चर्यजनक रूप से विद्यापति के वर्णन से मेल खाता है।

बादशाह जे वीराहिमसाही, राज करइ महि मंडल माही

आपुन महावली पुहुमी धावै, जउनपुर मंह छत्र चलावै
सम्बत चौदह सइ एक्यासी, सक्खनसेनि कवि कथा प्रगासी

'जउनपुर' के इब्राहिम शाह का काल १४२४ ईस्वी तक तो था ही। इसी के साथ लक्खन सेनि कुछ और महत्वपूर्ण व्यक्तियो का जिक्र करता है—

जैदेव चले सर्ग की वाटा, और गए घाघ सुरपति भाटा
नगर नरिन्द्र जे गए उनारी, विद्यापति कइ गए लाचारी

इन पक्तियो से लगता है कि १४२४ ईस्वी तक विद्यापति का शायद स्वर्ग-वास हो गया था क्योकि उनका नाम जयदेव और घाघ के साथ ही कवि ने लिया है और जयदेव को तो स्पष्ट ही 'स्वर्ग की बाट' गए, लिखा है। किन्तु इस तिथिकाल को विद्यापति का अन्तिम समय मानने मे कठिनाई दिखाई पडती है। फिर भी यह एक विचारणीय सवाल तो है ही। वैसे कहा जाता है विद्यापति ने लक्ष्मण सम्वत् २९९ यानी १४१८ ईस्वी में राजा पौरादित्य के समय में 'लिखनावली' का निर्माण किया और यही ३०९ लक्ष्मण सम्वत् यानी १४२८ ईस्वी में भागवत की एक प्रति लिखना समाप्त किया। यहाँ ईस्वी सन् को ११११९ जोड़कर निश्चित किया गया है। और इस तरह लखनसेनि का १४२४ वाला काल ठीक नही बैठता। विद्वानों ने इस दिशा में कई प्रकार के प्रमाणो के आधार पर विचार किया है, इसी दिशा मे मैं एक प्रमाण लखनसेनि का भी प्रस्तुत करता हूँ, अस्तु।[1]

---

१. लखनसेनि की रचना हरिचरित्र विराट पर्व का वर्णन १९४४-४६ की सर्च रिपोर्ट (नागरी प्रचारिणी सभा, अप्रकाशित) में दिया हुआ है। रिपोर्ट का अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा भी है।

जीवन-वृत्त

जैसा कि कवि के काल-निर्णय के सिलसिले में मैंने निवेदन किया है कि विद्यापति के जीवन-वृत्त का पता देने वाली ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है वह उनके जीवन से सम्बद्ध एकाध घटनाओं के विषय में यत्किंचित् प्रकाश डालने में ही सक्षम है। ऐसी अवस्था में कवि के जीवन-वृत्त का विवरण केवल उनकी रचनाओं में वर्णित वस्तु-तत्त्व तथा उनके परिपार्श्व में अभिव्यक्त भावों के भीतर निहित वैयक्तिक संकेतों तक ही सीमित हो सकता है। अर्थात् हम यत्किंचित प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के प्रकाश में उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ मोटी धारणायें बनाकर उनकी पुष्टि के लिए रचनाओं से कुछ अन्तः-साक्ष्य ढूँढ़ सकते हैं। इस प्रकार का कार्य सदा ही खतरे से भरा होता है क्योंकि यह अनिवार्यतः सही नही है कि किसी कवि की रचनाओं में अभिव्यक्त भाव-धारा और उसमें उपस्थित घात-प्रतिघात उसके जीवन का प्रतिफलन ही सूचित करें। यह सत्य है कि कवि का जीवन उसकी वैयक्तिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है और वह चाहकर भी अपनी वर्ण्य-वस्तु को उन प्रभावशाली प्रभावों से अलग नही कर पाता; किन्तु वर्ण्यवस्तु के साथ संलग्न भावों के आधार पर कवि के जीवन-वृत्त के निर्माण का कार्य सदा आनुमानिक ही कहा जायगा। प्रसिद्ध कवियों के जीवन के साथ किंवदन्तियो का वटाटोप भी कम नहीं होता। लोकप्रियता सदा ही लोक-मानस की रंगीन कल्पनाओं से अभिषिक्त हुआ करती है। जनता के पास अपने प्रिय व्यक्ति के लिए प्रतिदान में समर्पित करने के लिए केवल कल्पना के सुमन होते हैं। इसी कारण जो व्यक्ति जितना ही अधिक लोक-प्रिय होता है उसके व्यक्तित्व के चारो ओर निजंधरी कथाओं का जाल

भी उतना ही सघन होता जाता है। विद्यापति का जीवन-वृत भी इसी प्रकार को रंगीन कथाओ से आच्छन्न है। निजंधरी कथायें सर्वथा निर्मूल भी नही होतीं। निजंधरी (Legend) का अर्थ ही है जनता के भाँवो से अलंकृत ऐतिहासिक सामग्री (Folk-embroidered from historical material)। यह अलंकरण जितना ही अधिक घना होता है, ऐतिहासिक सामग्री का रूप उतना ही धूमिल। इस कारण निजंधरी कथाओ के पेट में से सत्याश को निकाल पाना बहुत कठिन होता है; किन्तु यह असंभव नही है।

विद्यापति का जन्म मिथिला के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का वह काल मिथिला के लिए विनिपात और दुःख का काल था। मिथिला नरेश गणेश्वर की असलान नामक सुलतान ने २५२ लक्ष्मणाब्द मे छलपूर्वक हत्या कर दी थी। राजा की मृत्यु के बाद देश में भयकर अराजकता छा गई। विजेता के अत्याचार से पीड़ित जनता न केवल दारिद्रय का शिकार हुई बल्कि सांस्कृतिक पतन का भी। विद्यापति ने वड़े शोक भरे शब्दों में लिखा है कि मिथिला में कोई गुण अवशिष्ट नही रहा, कवि लोग भिखारी बनकर मारे-मारे फिरते रहे। कीर्तिकला में उन्होने तत्कालीन मिथिला की अवस्था का इतना कारुणिक चित्रण उपस्थित किया है वह न केवल हृदय-द्रावक वल्कि भयोत्पादक भी है। इस परिस्थिति को देखते हुए यह अनुमान करना निराधार न होगा कि कवि का कैशोर दुःखपूर्ण परिस्थितियों की छाया में व्यतीत हुआ। विद्यापति का वंश सदैव से विद्या और वैभव का स्वामी रहा है। उनके पूर्वज कर्मादित्य, देवादित्य आदि न केवल प्रसिद्ध विद्वान् वल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। विद्यापति ने अपने इतने सम्भ्रान्त और प्रसिद्ध वश के किसी व्यक्ति का उल्लेख नही किया है। इस आधार पर डा० विमानविहारी मजूमदार ने यह अनुमान किया कि कवि ने शायद अपेक्षाकृत निम्न परिस्थितियो में रहने के कारण अपने परिवार के व्यक्तियो का उल्लेख नही किया। उन्होने लिखा है कि "आत्मसम्मान के विषय मे सचेतन, अपेक्षाकृत दरिद्र बुद्धिजीवी व्यक्ति अपने सम्वन्धी वडे लोगों का परिचय नही देना चाहते हैं क्या इसीलिए विद्यापति ने कही भी, किसी ग्रंथ अथवा

पद में, देवादित्य, वीरेश्वर, गणेश्वर, चण्डेश्वर, गोविन्द दत्त, रामदत्त प्रभृति ख्यातिमान एवं प्रभूत ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध की कोई बात नहीं लिखी है ?"[१] डा० मजूमदार स्वय ही यह प्रश्न शंका के रूप में ही उठाते हैं इसलिए इसके विरोध की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वैसे यह कथन पूर्णतः निराधार है क्योंकि विद्यापति का पूरा जीवन दुःख और दारिद्रय में नही व्यतीत हुआ। और न तो वे अपने सम्भ्रान्त वंश के लिए किसी भी प्रकार असम्मान के कारण ही हो सकते थे। वस्तुतः यह भारतीय कवियो की एक अद्भुत शालीनता रही है कि उन्होंने कभी भी अपने को प्रचारित करने का प्रयत्न नही किया। वैसे यह सत्य भी मान लिया जाय कि विद्यापति का जीवन वहुत कष्टमय था और उन्होंने अपनी स्थिति के प्रति आत्मग्लानि के भाव के कारण ही अपने पूर्वजो का नाम लेना उचित नही माना तो भी सरस्वती के इस दुर्ललित पुत्र की अभूतपूर्ण ख्याति में कोई फर्क नही आता।

गणेश्वर राजा की मृत्यु के वाद विद्यापति वहुत दिनों तक निराश्रित घूमते रहे। राजकुमार कीर्तिसिह जो वय में विद्यापति के वरावर ही थे अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे; किन्तु वे इस स्थिति में नहीं थे कि कवि को आश्रय दे पाते। विद्यापति इन्ही दिनों इधर-उधर घूमते हुए नशरत शाह और आजमशाह जैसे राजपुरुषो के सम्पर्क में आये। कवि ने अपने कई पदो में कवि भणिता के साथ इन लोगो के नाम लिए हैं। उदाहरण के लिए—

कविशेखर मन अपरुव रूप देखि
राय नरसद साह भजलि कमलमुखि

अथवा :

भनइ असोवर नव कवि शेखर
पुहवी तेसर कहाँ
साह हुसेन भृंग सम नागर
मालति सेनिक जहाँ

१. विद्यापति, डा० विमान विहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित, भूमिका, पृ० ७

एक पद मे उन्होने ग्यासदीन का भी नाम लिया है —

वेंकताओ चोर गुपुत करि कत खनि,
विद्यापति कवि भान
महलम जुगपति चिरे जीवे जीवथु
ग्यासदीन सुरतान

ग्यासदीन सुरतान अर्थात् गियास-उद्दीन आजमशाह ने अपने पिता सिकन्दर शाह से विद्राह करके ७९३ हिजरी में बंगाल पर अधिकार कर लिया। यदुनाथ सरकार इनका शासन-काल ईस्वी सन् १३८९ से १४०९ तक बताते हैं।[1] विद्यापति ने कीर्तिलता में इब्राहिमशाह द्वारा तिरहुत के उद्धार की बात लिखी है। इब्राहिम शाह १४०३ में गद्दी पर बैठा। ऐसी स्थिति में विद्यापति से आजम शाह या ग्यास-उद्दीन की भेंट तब हुई होगी जब कीर्तिसिंह का अभिषेक नही हुआ था। नशरतशाह के विषय में हम पीछे विचार कर चुके हैं। जो हो विद्यापति जैसे संस्कारी ब्राह्मण कवि के द्वारा कविताओ का विदेशी मुसलमान-शासको को, जिनके प्रति उनके मनमें आदर का भाव न था जैसा कि कीर्तिलता मे उन्होने स्पष्ट व्यक्त किया है, इन रचनाओं का समर्पित किया जाना इस बात का द्योतक है कि कवि की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नही थी। उन्हें अपने तमाम संस्कारो को दबाकर विवशता की हालत में विदेशी शासको के प्रति श्रद्धा व्यक्त करनी पड़ी।

ईस्वी सन् १४०२-३ में जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का उद्धार हुआ। कीर्तिसिंह ने जौनपुर जाकर सुल्तान से सहायता माँगी। कीर्तिलता में कवि ने जौनपुर का बड़ा विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। वहाँ के बाजारो, सड़को, अट्टालिकाओ तथा टेढे-मेढे रास्तों का इतना बारीक वर्णन शायद चाक्षुष प्रत्यक्ष बिना संभव नही हो सकता। कवि ने राजमहल के वर्णन में मुसलमानी भवन-निर्माण शैली की जानकारी का परिचय भी दिया है। लगता है कि उन्होने यह सब कुछ अपनी आँखों

1. History of Bengal. Vol. II, Page 116

से देखा है अन्यथा एक एक वस्तु का इतना सूक्ष्य चित्रण कठिन होता। उदाहरण के लिए उन्होंने राजमहल का वर्णन करते वक्त केवल उसकी भव्यता का जिक्र ही नही किया है वल्कि चहारदीवारी, सदरदर, वारिगाह, षोग्रारगह, दरवारेखास, आदि हिस्सो का अलग-अलग और सिलसिलेवार विवरण प्रस्तुत किया है। इनसे अनुमान होता है कवि कीर्तिसिंह और उनके भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर गए थे। उन्हे बहुत दिनो तक सुलतान के दर्शन की प्रतीक्षा में वहाँ रुकना पड़ा था। विद्यापति ने लिखा है कि सैकड़ो राजे-महाराजे दर्शन की आकांक्षा से आते और किले के सामने वर्षो घूमते रहते, पर दर्शन न मिलता। कीर्तिसिंह ने सुलतान को जाने कितनी अमूल्य वस्तुयें भेंट में दी तव कही खुदावन्द सुलतान प्रसन्न हुए और वजीर की कृपा से भेट की व्यवस्था हुई। कीर्त्तिलता की भाषा में न केवल फारसी शब्दो का प्रयोग हुआ है वल्कि अवधी भाषा के भी बहुत से रूप दिखाई पड़ते हैं। इससे लगता है कि विद्यापति जौनपुर अवश्य आये थे। खैर, कीर्तिसिंह का प्रयत्न सफल हुआ। असलान युद्ध-भूमि मे पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ ? तिरहुत को लुप्त वैभव फिर मिला, राजा के अभिषेक के समय वाद्य-गीत के स्वरो में विद्यापति ने भी अपने हृदय का उल्लास बिखेर दिया। कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगो को लेकर वाद में कवि ने कीर्ति-पताका की रचना की।

ईस्वी सन् १४१० से १४११ के चार वर्षो का समय कवि विद्यापति के जीवन के सर्वाधिक उल्लासपूर्ण वर्ष थे। वर्षों की अशान्ति के वाद एक वार फिर मिथिला में शान्ति और समृद्धि की स्थापना हुई। शिवसिंह राजा थे और लखिमा देवी रानी। विद्यापति को राजा शिवसिंह के द्वारा जो सम्मान प्राप्त हुआ वह अभूतपूर्व था। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि विद्यापति दरवारी कवि थे पर अपनी तरह के। उन्होंने राजा की प्रशस्ति गाई, पर अपने को चारण नही राज-सखा समझा। कीर्तिसिंह के प्रसंग मे उन्होंने अपने को उनका 'खेलन कवि' वताया है। शिवसिंह के वे सखा-कवि थे। शिवसिंह की कई रानियाँ थी; पर लखिमा के सौदर्य और

बुद्धि का कोई जवाब नही था। लखिमा पटरानी थी, वह विदुषी थी, सुन्दरी थी और कवयित्री भी थी। कहा जाता है कि अन्तःमहल में विद्यापति के गीतों का राजा-रानी के समक्ष सस्वर पाठ होता था। विद्यापति ने समवयस्क युवा राजा और युवती रानी को जो गीत समर्पित किये है वे प्रायः राधाकृष्ण के प्रेम, रूपासक्ति, मान, और कामकला के विविध पक्षो को स्पष्ट करने वाले है। ऐसे गीतो को देखने से मालूम होता है कि कवि का जीवन बहुत सुखी और उल्लासपूण था। मैंने आरंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्यकालीन लेखको पर, खासतौर से दरबारी कवियो पर कामशास्त्र का बहुत घनिष्ट प्रभाव पड रहा था। विद्यापति ने इस प्रकार के शृंगारिक पदो के अन्त में कवि भणिता के साथ शिवसिंह के बारे मे जो प्रशस्ति वाक्य दिये है, वे उनकी कामकला विदग्धता को प्रकट करते है। वे सर्वत्र लिखते है कि इस गूढ रहस्य को लखिमा के साथ रमण करने वाले राजा शिवसिंह समझते है। ऐसे प्रसंगों को देखने से अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति शिवसिंह के न केवल मित्र बल्कि अन्तरंग थे। शिवसिंह के प्रति जितने आन्तरिक प्रेम का परिचय इन गीतो से ध्वनित है, वह अपने तरह का है। ऐसा प्रेम शायद ही किसी दरबारी कवि को किसी राजा से प्राप्त हुआ हो। यह विद्यापति के सर्वाधिक उल्लास के दिन थे।

पर समय सदा एक सा नही रहता। विद्यापति के आनन्द की अतिशयता पर नियति की भृकुटि खिंच चुकी थी। राजा ने दिल्ली को कर देना बन्द कर दिया, मुसलमानी फौज ने मिथिला को बरबाद कर दिया और शिवसिंह कैद करके दिल्ली ले जाए गए। संभवतः वही उनकी मृत्यु भी हुई। प्रिय राजा के वियोग ने कवि के हृदय के उल्लास-पूर्ण तारो को तोड़ दिया। प्रणय, मांसल सौंदर्य, काम-मुद्रायें, और प्रेम की रगीन दुनिया टकराकर चूर चूर हो गई। मिलन के मादक गीतो के स्थान पर विरह के उत्तप्त स्वर फूट पडे। विरह के गीतो के पीछे छिपी इस करुण प्रेरणा को पहचानने का कोई आधार नही। लखिमा की अवस्था तो और भी

अधिक शोचनीय रही होगी। मैंने प्रथम अध्याय में लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध श्लोको में से एक उद्धृत किया है। इस श्लोक में विरह की आर्त पीड़ा की बड़ी हृदय-द्रावक विवृति दिखाई पड़ती है। विद्यापति ने अपने प्रिय राजा की विदुषी पत्नी को, जिसके प्रति उनके हृदय में भी प्रेम का मधुर भाव संयोजित था, सान्त्वना देने का बहुत प्रयत्न किया। विरह गीतो के अन्त मे सर्वत्र कवि ने विरहिणी को यह आश्वासन दिया है। वे बार-बार कहते हैं कि कामिनि इतनी विह्वल न बन, तेरे प्रियतम अवश्य ही लौटकर आयेंगे। वर्षा के नील मेघों से आच्छन्न धरती को देखकर भरे हृदय से वे कहते है कि क्या हुआ यदि वह इस पावस में नही आया, कातिक मास के आरंभ में उसका आना तो निश्चित है। विरहिणी पति के वियोग में जीवित चिता में प्रवेश करने की वात किया करती थी, कवि ने इसी को लक्ष्य करके कहा है—

सून सेज मोहि सालय रे
पिया विनु घर मोयं आजि
विनति करो सहलोलिनि रे
मोंहि देहि अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आनि मिलब प्रिय तोर
लखिमा देइ वर नागरि रे
राय सिव सिंह नहिं मोर

क्या इस पद से यह ध्वनित नही है कि लखिमा शिवसिंह के दारुण विरह को संभालने में असमर्थ अपने को नष्ट कर देने की वात सोचा करती थी, कवि ने स्पष्ट कहा है, ओ लखिमा, ओ श्रेष्ठ नागरिका, राजा शिवसिंह तुम्हें भूले नही हैं, वे शीघ्र ही लौटेंगे। एक दूसरे पद के अन्त में यही वातें फिर दुहराई गई है—

भनइ विद्यापति अरे रे कमलमुखि
गुन गाहक पिया तोर

राजा सिवसिंह रूप नारायन
सहज एको नहि भोर

अथवा :—

मनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे

पर मनोरथ न पूरा, गात्र शब्दो से झूठी सान्त्वना देने के मिथ्योपचार को विद्यापति खूब समझते थे। प्रिय विश्लेप-दुःख की पीड़ा में अपने सुहाग के प्रति आशंकित विरहिणी को वे सर्वत्र सुहागिनि, कामिनि आदि सम्बोधन से सचेत करते हैं; पर सत्य उनके निकट छिपा न था। इसीकारण विरह के पदो में उनके मन की कातरता छिप न सकी। कवि ने बाद में अपने मन को झूठी बातो से भुलाना छोड़ दिया। हमें पता नहीं कि लखिमा का क्या हुआ। सभवत. प्रिय की विरह पीडा की उत्तप्त हवा में यह मुकुलित पुष्प सदा के लिए विखर कर धूल में मिल गया। जब सान्त्वना चाहने वाला ही न रहा तो फिर आशा की मिथ्या रेखा ही क्यो खीची जाये, कवि ने निराश होकर कहा :—

हृदयक वेदन बान समान
आनक दुःख आन नहि जान
भनइ विद्यापति कवि जय राम
देव लिखल परिनत फल वाम

दैव-दुर्विपाक के सामने कवि ने घुटनें टेक दिये। जो कुछ होना था हो गया। आनन्द के क्षण सदा के लिए चले गए।

ईस्वी सन् १४१८ में विद्यापति ने पुरादित्य के राजत्व काल में राजबनौली में लिखनावली की रचना की। लिखनावली में चिट्ठी-पत्री लिखने का तरीका वताया गया है। प्रणय जिसके काव्य की प्रेरणा थी, सौन्दर्य उपादान, अपरूप सौन्दर्य के नवल रूप को वर्षों देखते रहने पर भी जिस कवि के नयन कभी 'तिरपित' नही हुए, उसी ने चिट्ठी-पत्री लिखने वालों के लिए लिखनावली का निर्माण किया। लिखनावली की रचना स्पष्ट ही पेट पालने का वहाना है। इसके आधार पर यह कहा जाय कि कवि

अधिक शोचनीय रही होगी। मैंने प्रथम अध्याय में लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध श्लोकों में से एक उद्धृत किया है। इस श्लोक में विरह की आर्त पीड़ा की बड़ी हृदय-द्रावक विवृति दिखाई पड़ती है। विद्यापति ने अपने प्रिय राजा की विदुषी पत्नी को, जिसके प्रति उनके हृदय में भी प्रेम का मधुर भाव संयोजित था, सान्त्वना देने का बहुत प्रयत्न किया। विरह गीतों के अन्त में सर्वत्र कवि ने विरहिणी को यह आश्वासन दिया है। वे बार-बार कहते हैं कि कामिनि इतनी विह्वल न बन, तेरे प्रियतम अवश्य ही लौटकर आयेंगे। वर्षा के नील मेघों से आच्छन्न धरती को देखकर भरे हृदय से वे कहते हैं कि क्या हुआ यदि वह इस पावस में नहीं आया, कातिक मास के आरंभ में उसका आना तो निश्चित है। विरहिणी पति के वियोग में जीवित चिता में प्रवेश करने की बात किया करती थी, कवि ने इसी को लक्ष्य करके कहा है—

सून सेज मोहि सालय रे
पिया बिनु घर मोयं आजि
विनति करों सहलोलिनि रे
मोंहि देहि अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आनि मिलव प्रिय तोर
लखिमा देइ वर नागरि रे
राय सिव सिंह नहिं मोर

क्या इस पद से यह ध्वनित नहीं है कि लखिमा शिवसिंह के दारुण विरह को संभालने में असमर्थ अपने को नष्ट कर देने की बात सोचा करती थीं, कवि ने स्पष्ट कहा है, ओ लखिमा, ओ श्रेष्ठ नागरिका, राजा शिवसिंह तुम्हें भूले नहीं हैं, वे शीघ्र ही लौटेंगे। एक दूसरे पद के अन्त में यही बातें फिर दुहराई गई हैं—

भनइ विद्यापति अरे रे कमलमुखि
गुन गाहक पिया तोर

राजा सिवसिंह रूप नारायन
सहज एको नहि भोर

अथवा :—

भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे

पर मनोरथ न पूरा, मात्र शब्दों से झूठी सान्त्वना देने के मिथ्योपचार को विद्यापति खूब समझते थे। प्रिय विश्लेप-दुःख की पीड़ा मे अपने सुहाग के प्रति आशंकित विरहिणी को वे सर्वत्र सुहागिनि, कामिनि आदि सम्बोधन से सचेत करते हैं; पर सत्य उनके निकट छिपा न था। इसीकारण विरह के पदो में उनके मन की कातरता छिप न सकी। कवि ने बाद में अपने मन को झूठी बातो से भुलाना छोड़ दिया। हमें पता नही कि लखिमा का क्या हुआ। सभवतः प्रिय की विरह पीडा की उत्तप्त हवा में यह मुकुलित पुष्प सदा के लिए बिखर कर धूल में मिल गया। जब सान्त्वना चाहने वाला ही न रहा तो फिर आशा की मिथ्या रेखा ही क्यो खीची जाये, कवि ने निराश होकर कहा :—

हृदयक वेदन बान समान
आनक दुःख आन नहि जान
भनइ विद्यापति कवि जय राम
देव लिखल परिनत फल बाम

दैव-दुर्विपाक के सामने कवि ने घुटने टेक दिये। जो कुछ होना था हो गया। आनन्द के क्षण सदा के लिए चले गए।

ईस्वी सन् १४१८ में विद्यापति ने पुरादित्य के राजत्व काल मे राजबनौली में लिखनावली की रचना की। लिखनावली में चिट्ठी-पत्री लिखने का तरीका बताया गया है। प्रणय जिसके काव्य की प्रेरणा थी, सौन्दर्य उपादान, अपरूप सौन्दर्य के नवल रूप को वर्षो देखते रहने पर भी जिस कवि के नयन कभी 'तिरपित' नही हुए, उसी ने चिट्ठी-पत्री लिखने वालो के लिए लिखनावली का निर्माण किया। लिखनावली की रचना स्पष्ट ही पेट पालने का बहाना है। इसके आधार पर यह कहा जाय कि कवि

के जीवन का वह समय आर्थिक संकट में बीत रहा था, तो शायद अतिशय कल्पनाप्रियता का दोष लगाया जायेगा किन्तु यह कल्पना यही तक समाप्त नही होती। इसके पक्ष में एकाध प्रमाण और प्राप्त होते है। नेपाल-राज की लाइब्रेरी में लक्ष्मण-सम्वत् ३९१ की लिखी हुई, ब्राह्मणसर्वस्व की पाण्डुलिपि सुरक्षित है। इसे विद्यापति के शिष्य रूपधर ने तैयार की थी। हलायुध मिश्र के इस ग्रथ के अन्त मे पुष्पिका में लिखा है कि लिपिकरण के समय रूपधर विद्यापति के पास ब्राह्मण-सर्वस्व पढा करता था। जाहिर है कि कवि उन दिनों विद्यार्थियों को कर्मकाण्ड और स्मृतिशास्त्र का अध्यापन किया करते थे। मै नही सोचता कि यह उनके जीवन की सम्पन्नता का द्योतक है। विद्यापति जैसे अभिजात रुचि के कवि के लिए यह सब विवशता की अवस्था में ही स्वीकार करना पड़ा होगा।

कष्ट की ऐसी ही परिणत अवस्था में शायद उनके मन में निराशावादी कातरता का उदय हुआ था। मैंने स्पष्ट कहा है कि यह कातरता कवि का स्वभाव नही थी। इस प्रकार के जीवन्त गत्वर और रोमेण्टिक विचारधारा का कवि कभी भी निराशावादी नही हो सकता। इसी अवस्था में उन्होंने शिव, दुर्गा, कृष्ण और जानकी आदि के स्तुति-पद भी लिखे। इन पदो में भक्त की दीनता और आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति है, इसमें शक नही। किन्तु इसे हम चाहें तो परम्परा-निर्वाह भी कह सकते है। इस प्रकार की दीनता प्रत्येक भक्त कवि की रचनाओ में दिखाई पड़ती है। तुलसी, सूर आदि कोई भी इस कायरता से बच न सका, क्योकि यह कातरता भक्त के व्यक्तित्व की कमजोरी नही, गुण मानी जाती थी।

रचनायें

विद्यापति ने सस्कृत, अपभ्रश और भापा या प्रारम्भिक मैथिली तीनो ही में रचनाये की। संस्कृत मे उन्होने शास्त्रीय या स्तुतिपरक रचनाये लिखी। सस्कृत उस काल में केवल थोड़े से शिष्ट जनो की भाषा रह गई थी। विद्यापति ने संस्कृत को बुधजन की भाषा बताया है। उन्होंने लिखा है कि सस्कृत इसके मर्म को नही छूती। देसी भाषा सबसे मीठी है इसीलिए उसी के समान अवहट्ठ मे कीर्तिलता काव्य लिख रहा हूँ—

सक्कय वाणी बुह जन भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वयना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा

इससे स्पष्ट है कि उनके मन में देसी भाषा के प्रति बहुत प्रेम था। उन्होने सस्कृत में या अवहट्ठ मे काव्य केवल तत्कालीन परम्परा के निर्वाह के लिए ही लिखा। अवहट्ठ में राजा और सामन्तो के युद्ध और प्रेम प्रसगो के वर्णन की पद्धति चल पडी थी, उस पद्धति का निर्वाह उन्होने कीर्तिलता और कीर्ति पताका लिखकर किया। संस्कृत भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था किन्तु उनकी संस्कृत रचनाओं का महत्त्व राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही आँका जा सकता है शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से नही। इसीलिए हमनें संस्कृत रचनाओ का नामोल्लेख मात्र ही किया है उनका साहित्यिक मूल्याङ्कन नहीं। अवहट्ठ-काव्य का अवश्य ही अपना एक अलग महत्त्व है। इसके विषय में अवहट्ठ काव्य शीर्षक अध्याय में अलग विचार किया गया है।

विद्यापति की रचनाये :—

(१) कीर्तिलता—कीर्तिसिंह के शासन काल में उनकी राज्य-प्राप्ति के प्रयत्नों पर लिखित ।

(२) कीर्तिपताका—कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगो पर आधारित ।

(३) भू-परिक्रमा—शिवसिंह की आज्ञा से लिखित, भूगोल सम्वन्धी ग्रंथ ।

(४) पुरुष परीक्षा—शिवसिंह की आज्ञा से रचित दण्डनीति-विषयक ।

(५) लिखनावली—पुरादित्य के शासनकाल में राजवनौली में लिखित । इसे कवि ने अल्प पठित लोगों को चिट्ठी-पत्री लिखना सिखलान के लिए लिखा ।

(६) शैवसर्वस्वसार—विश्वासदेवी की आज्ञा से, शैव सिद्धान्त-विषयक ।

(७) गंगावाक्यावली—विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखित ।

(८) विभागसार—नरसिंह की आज्ञा से रचित ।

(९) दानवाक्यावली—धीरमति की संरक्षता में लिखित ।

(१०) दुर्गाभक्ति तरंगिणी—धीरसिंह की आज्ञा से ।

विद्यापति का यश उपर्युक्त रचनाओं पर आधारित नही है । जैसा कि निवेदन किया गया; ये रचनायें एक खास उद्देश्य से किसी न किसी राजा रानी के प्रीत्यर्थ लिखी गई । इसमें कवि के वैयक्तिक कर्त्तव्य उत्तर-दायित्व और आश्रयदाता राजा की आज्ञा का पालन प्रमुख है उनके हृदय के भाव या अनुभूतियाँ नही । इन रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने ५०० से अधिक पद लिखे है । ये पद ही उनकी अक्षय कीर्ति के आधार है । राजदरवार के दमघोंट वातावरण में रहते हुए भी उन्होने इन्ही पदों के सहारे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा । इन पदों में कवि की आत्मा के स्वर है, उनके हृदय के कंपन है । इन पदो में कवि ने राजाओ के विलास की नही जनता के सहज हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति की है । पदावली के पद कई राजा-नवावो को समर्पित हुए है । इनमें देवीसिंह, शिवसिंह और लखिमा, पद्मसिंह और विश्वासदेवी, शिवसिंह के चचेरे भाई अर्जुन और अमर, राघव सिंह, रुद्र सिंह, नरसिंह और धीरमति तथा शिवसिंह के चचेरे भाइयो के लड़के धीरसिंह, भैरवसिंह तथा चन्द्रसिंह आदि के नाम आते है ।

पदावली के विभिन्न पाठ

विद्यापति के पदों का संकलन का कार्य बहुत पहले से होता आ रहा है। इतने ख्यातिप्राप्त कवि के इन मधुरपदो को प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पत्ति समझता है, इसी कारण कवि के समय से आज तक जाने कितने व्यक्तियो ने इन पदो को अपने उपयोग के लिए सगृहीत किया होगा। किन्तु इस प्रकार के संग्रह लोकप्रियता की सूचना ही देते है, रचनाओ की प्रामाणिकता की नहीं। रचनाओ की प्रामाणिकता केवल पाठ-विशेषज्ञो द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्पादित संग्रह से ही प्रकट हो सकती है। विद्यापति के पदो का संग्रह जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, चन्दा झा, नगेन्द्रनाथ गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि ने किया है। इन संग्रहों में केवल आकर पोथियों का ही उपयोग नही किया गया बल्कि जन-मुख से सुने हुए पदो को भी संकलित कर लिया गया। परिणामतः ये संकलन विद्यापति के पदो की बढती हुई संख्या को सूचित करते है, किन्तु वे कितने प्रामाणिक है यह जानना कठिन हो जाता है।

विद्यापति के पदों के हस्तलिखित संग्रह मिथिला, नैपाल और बंगाल में सुरक्षित है। मिथिला की पोथियो मे शिनन्दन ठाकुर द्वारा प्राप्त राम-भद्रपुर की पाण्डुलीपि, रागतरगिणी तथा तरौणी की ताल-पत्र पोथी-प्रमुख है। राग-तरंगिणी लोचन कवि की कृति है जिसमें यथावसर विद्यापति के ५१ पद संकलित है। यह ग्रथ लोचन कवि ने सत्रहवी शताब्दी में मही-नाथ ठाकुर के राजत्वकाल में लिखा था, क्योकि उन्होने ग्रंथ मे एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है:

धीरश्री महिनाथ भूप तिलक. शास्तेवुना मैथिलान्

(मगलाचरण, षष्ठ श्लोक)

सातवें श्लोक को देखने से मालूम होता है कि इस ग्रंथ की रचना कवि ने मल्लीनाथ के छोटे भाई नरपति की आज्ञा से की।

इसप्रकार रागतरंगिणी की प्रति बहुत पुरानी नहीं है। यह विद्यापति की मृत्यु के ढाई सौ वर्ष बाद लिखी गई है। लेखक ने कवि के इन ५१ पदों को कहाँ से संकलित किया है इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। रागतरंगिणी के ५१ पदो में तीन में विद्यापति का नाम नहीं आता किन्तु उनके नीचे कवि लोचन ने 'इति विद्यापतेः' लिखा है। जिससे मालूम होता है कि ये पद विद्यापति के ही हैं। दो पदो में कवि के नाम के स्थान पर 'कण्ठहार' भणिता दी हुई है जो उनकी एक उपाधि थी।

मिथिला की दूसरी पोथी रामभद्रपुर की है जिसे शिवनन्दन ठाकुर ने प्राप्त किया था। यह पोथी मूलतः पंडित विष्णु लाल झा को मिली थी जिन्होंने ठाकुर को इसकी प्राप्ति की सूचना दी। ठाकुर ने इस पोथी से पदो को उतारकर 'विद्यापति विशुद्ध पदावली' शीर्षक से अपनी पुस्तक महाकवि विद्यापति में प्रकाशित किया। यह पाण्डुलिपि काफी पुरानी है, इसमें सन्देह नहीं। तालपत्रों पर लिखी इस पोथी में चार लिपिकारों के हस्ताक्षर हैं। सभी तालपत्र भी एक जैसे पुराने नही मालूम होते। डा० विमान विहारी मजूमदार का अनुमान है कि कोई अक्षर अथवा तालपत्र दो सौ वर्षों से कम का नहीं है। इस पोथी में ३५ पत्र संलग्न हैं, शेष नष्ट हो गए हैं। उपलब्ध पदो की संख्या ९६ है जिनमें ८६ पदो को स्व० शिवनन्दन ठाकुर ने प्रकाशित कराया था।

मिथिला की तीसरी पोथी तरौणी की तालपत्र पोथी कही जाती है। यह पोथी अब प्राप्त नहीं होती इसलिए इसके विवरण आदि के लिए श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त की सूचनाओं पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि इस पोथी में प्रायः ३५० पद थे जिन्हें उन्होंने अपने संस्करण में प्रकाशित किया था।

नेपाल में प्राप्त होने वाली पोथी नेपाल सरकार की लाइब्रेरी में सुरक्षित है। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल और डा० अनन्त प्रसाद बन्द्योपाध्याय ने दरभंगा नरेश की आज्ञा से इसकी फोटो कापी तैयार की थी।

इस फोटो कापी का प्रथम खड पटना कालेज लाइब्रेरी में और दूसरा पटना विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

नेपाल पोथी की लिपि प्राचीन मैथिली ही है। इस पोथी में पदो की सख्या २८७ है।

बगाल में विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे हैं। गौडीय वैष्णव भक्तो ने विद्यापति के गीतो को बड़ी सावधानी से सुरक्षित किया है। सबसे प्राचीन पोथी 'क्षणदागीत चिन्तामणि' है जिसे विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ईस्वी सन् १७०५ के आसपास तैयार किया।

बंगाल में तैयार की गई दूसरी पोथी पदामृतसमुद्र है जिसे संकलन कर्ता राधामोहन ठाकुर हैं। अनुमानतः अट्ठारहवी शताब्दी में इन्होने इस ग्रथ का संकलन किया। इसमें कुल ७४६ पद हैं जिनमें उनके स्वरचित पदो की सख्या २२८ और गोविन्द दास के पद सकलित हैं। इस संकलन में सगृहीत विद्यापति के पदों पर बंगला का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। उच्चारण के कारण तो परिवर्तन हुआ ही है, मैथिली के प्रयोगो के स्थानपर बंगला प्रयोग दिए गए है जिससे भाषा मे वहुत अन्तर आ गया है।

अठारहवी शताब्दि के उत्तरार्ध में गोकुलानन्द सेन अर्थात् वैष्णवदास ने पद कल्पतरु का संकलन किया। वैष्णव पदावली के सभी संग्रहो में यह वहत्तम है। इसमें ३१०१ पद हैं। इसमें विद्यापति के १६१ पद है। डा० विमानविहारी का ख्याल है कि इस सग्रह में सकलित विद्यापति भणिता से युक्त सभी पद मैथिली कवि विद्यापति की ही रचनायें नही हैं।

देशबन्धु चितरंजन दास के पास संकीर्तनामृत की पोथी उपलब्ध थी। इस संग्रह को १७७१ ईस्वी में दीनबन्धु दास ने तैयार किया था। इसमें चालीस कवियों के ४६१ पदो का संग्रह है। इसमें विद्यापति के रचे हुए केवल दस पद हैं।

विद्यापति के पदो के उपलब्ध इन विविध बातो की प्रामाणिकता पर विचार करने की आवश्यकता नही, क्योकि जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर डा० विमानविहारी मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में तथा डा० सुभद्र झा ने सांग्स आव् विद्यापति में विस्तार से विचार किया है।

जीवन-दृष्टि और धार्मिक मान्यताएं

कोई भी कवि या लेखक अपने वातावरण से अलग होकर नहीं जीता। वातावरण कवि के जीवन को, उसके व्यक्तित्व को परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही रूपों में कई प्रकार से प्रभावित करता रहता है। यह सत्य है कि कवि केवल वातावरण की उत्पत्ति नही है, वह वातावरण,—सांस्कृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण का,—निर्माता भी है। किन्तु निर्माण की यह शक्ति, या उसे वदलने की यह क्षमता भी कवि को उसी से प्राप्त होती है। देश-काल की सांस्कृनिक स्थिति किसी कवि के काव्य को प्रभावित करने में समर्थ होती है। श्री हिपोलाइत टेन ने लिखा है कि काल और देश कवि के निर्माण मे निर्णायक तत्त्व माने जाते हैं। टेन के विचारों को ही आगे चलकर समाजशास्त्री आलोचकों ने वहुत विकसित किया। फ्रांसीसी आलोचक वातावरण के इस पूरे प्रभाव को व्यक्त करने के लिए 'मिलियू' (Milieu) शव्द का प्रयोग करते हैं। वातावरण के सम्यक् अध्ययन के अभाव मे हम कभी-कभी किसी कवि के काव्य के अन्त:साक्ष्यों के आधार पर या कभी कभी केवल अनुमान के वल पर उसकी जीवन-दृष्टि तथा धार्मिक मान्यताओं आदि के वारे में नाना प्रकार के विवाद उपस्थित कर देते हैं। कवि विद्यापति के विपय में भी इसी प्रकार के विवाद चलते हैं। विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक, शैव थे या शाक्त, रहस्यवादी थे या मात्र लौकिक, आदि आदि। इन सभी प्रश्नों का उत्तर विद्यापति के समय की सांस्कृतिक और धार्मिक अवस्थाओं के अध्ययन तथा कवि की जीवन दृष्टि के विश्लेपण के आधार पर ही दिया जा सकता है।

विद्यापति को बहुत से आलोचक रहस्यवादी कवि मानते हैं। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने विद्यापति के काव्य के अन्त:स्रोतो का विचार करके यह निश्चित किया कि "राधा और कृष्ण वस्तुतः प्रतीक हैं। राधा जीवात्मा का प्रतीक है जबकि कृष्ण परमात्मा का प्रतीक हैं। जीवात्मा परमात्मा से मिलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। यह प्रयत्न तब तक अप्रतिहत रूप से चलता रहता है जब तक जीवात्मा परमात्मा मे लय होकर सायुज्य लाभ नही कर लेता। जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों और माया के पाशों में इस प्रकार आबद्ध है कि वह अपनी आन्तरिक प्रेरणा से परमात्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नही करता। इसीलिए उसे ईशोन्मुख करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। विद्यापति के काव्य में दूती इसी गुरु का प्रतीक है। यह दूती जीवात्मा या प्रेमिका को निरन्तर परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करती है। इतना ही नही इस अभिसार या प्रेम-मिलन के प्रत्येक कार्य मे वह उसकी सहायता भी करती है।"[1] श्री नागेन्द्र नाथ गुप्त ने, जिन्होने विद्यापति के पदो को एकत्र संगृहीत किया, अपने एक भाषण में विद्यापति को रहस्यवादी बताया।[2]

श्री जनार्दन मिश्र ने भी विद्यापति को रहस्यवादी बताया है। उन्होंने लिखा है कि 'विद्यापति के समय मे रहस्यवाद का मत जोरो पर था, उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अनुसरण करना उन्हें शायद अभीष्ट न था। अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमें न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उसमें उन्होंने अपने को बहा दिया।[3] श्री जनार्दन मिश्र ने अपने मत की पुष्टि के लिए जिस पद को उद्धृत किया है उसे भी देख लेना चाहिए। वह पद नीचे दिया जाता है—

1. Grierson, Maithili Crestomathy. Page 36
२. पटना विश्वविद्यालय में १९३५ ई० में विद्यापति पर दिये गए भाषण से।
३. विद्यापति, पृ० ४७।

एक दिन छलि नवनीत रे
जल मिन जेहन पिरीत रे
एकहिं वचन विच भेल रे
हंसि पहु उतरो न देल रे
एकहि पलंग पर कान्ह रे
मोर लेख दूर देस भान रे

इस पद में जीवात्मा का अहंकार तथा बाद में उसकी ग्लानि का चित्रण है। पलंग शरीर है—जहाँ आत्मा के रूप मे परमात्मा निरन्तर हृदय में निवास करता है; किन्तु अज्ञान मे पड़े जीव के लिए वह जाने कितनी दूर है।

श्री कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदों में रहस्यवादी भावो का प्रभाव देखते है। 'सांग्स आव विद्यापति' में श्री कुमारस्वामी ने लिखा' कि विद्यापति का काव्य गुलाव है, गुलाब। चारों तरफ से केवल गुलाब। यह आनन्द-निकुंज है। यहाँ हमे उस स्वर्ग का दर्शन होता है—वृन्दावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय देश है। जमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीला-भूमि है। वंशी की आवाज अदृश्य सत्ता की आवाज है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।

कुमार स्वामी के मतो का जोरदार विरोध करते हुए श्री विनयकुमार सरकार ने अपनी पुस्तक 'लव इन हिन्दू लिटरेचर' मे लिखा कि कुमार-स्वामी जैसे विद्वान दार्शनिक, कवि, आलोचक की सबसे बड़ी कमजोरी,

३. Vidyapati is roses, roses all the way, is a Bower of Bliss there we have the early paradise as it were of an Indian willium morris—Jamuna bank in Vaishnva literature stands for this wored regarded the constant meeting place of Radha and Krishna where amidst the affairs of daily life the soul is arrested, beguiled to her undoing In the flute of Krishna there is call of Infinite.

जो उन्हे इस प्रकार की द्विधापूर्ण और असंबद्ध बातें कहने के लिए प्रेरित करती यह है कि वे कभी भी यह मानने को तैयार नही है कि वस्तुतः विद्यापति के काव्य की प्रेरणा में श्रृंगार और कामवासना है। केवल श्रृंगार और काम-वासना। श्रृंगार की भावना कभी दूषित नही है और न तो विद्यापति को इसके लिए किसी के सामने सफाई देने की ही जरूरत है। श्रृंगार स्वतः महान् है, वह अपनी महत्ता के लिए किसी का मुखापेक्षी नहीं है।

आगे चलकर विनयकुमार सरकार ने लिखा है कि वस्तुतः कुमार स्वामी जिन्होंने अपनी धारणा बना रखी है कि विद्यापति के श्रृंगारिक वर्णन भारतीय पारिवारिक जीवन की मर्यादा का उल्लंघन करते है, इसे तोपने के लिए विद्यापति के मांसल, ऐन्द्रिक प्रेम-वर्णनो को आध्यात्मिक बनाने का असफल प्रयत्न करते है। वस्तुत. वे विद्यापति की ओर से उनकी प्रेम-भावना के लिए जो मनुष्य के मन को ऊपर उठाती है, ऐन्द्रिकता समझकर सफाई देने के लिए प्रयत्नशील है। किन्तु वे लाख प्रयत्न करके भी राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन के प्रत्येक प्रसंग को जीव की ब्रह्मोन्मुखी साधना प्रमाणित नहीं कर सकते। वह चाहें भी तो पार्थिव तत्त्वों, गन्दगी, धूल, अपूर्णता, अतृप्ति, स्त्री के हृदय, मनुष्य के प्रेम, ऐन्द्रिय सुख, को नजरअन्दाज नही किया जा सकता। विनयकुमार सरकार के मत से "ऐन्द्रिक भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊँचें स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अलावा और किसी ने प्रस्तुत नही किया है।"[1]

इस प्रकार हमने देखा कि ग्रियर्सन, जनार्दन मिश्र, कुमारस्वामी जैसे विद्वान विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम-वर्णन को रहस्यवादी बताते है जबकि विनयकुमार सरकार और बहुत से दूसरे लोग इसे नितान्त श्रृंगारिक, सौ फीसदी श्रृंगारिक कहते है। जनार्दन मिश्र ने विद्यापति के रहस्यवादी होने का एक कारण यह भी बताया है कि उस समय रहस्यवादी धारा

1. Love in Hindu literature–Page 20-21

की प्रधानता थी, विद्यापति इससे बच न सके और उसमें वह गये। रहस्यवादी धारा से उनका तात्पर्य क्या है यह तो स्पष्ट नही हो सका। किन्तु तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन करनेवाला उनके संकेत को अवश्य ही समझ सकता है। रहस्यवादी साहित्य जो विद्यापति के समय में या उनके पूर्व लिखा जा रहा था वह या तो सिद्ध साहित्य था या परवर्ती सूफी साहित्य। रहस्यवादी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप में सिद्ध-साहित्य में नही दिखाई पड़ती, फिर भी सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत रहस्य-वादी प्रवृत्ति का एक रूप है अवश्य। सिद्धो का रहस्यवाद आधुनिक रहस्यवाद से थोड़ा भिन्न है। भिन्न इस अर्थ में कि आधुनिक रहस्यवाद न तो दार्शनिक शब्दों या साम्प्रदायिक नियमों से आक्रान्त है और न तो इसमे पुरान मध्यकालीन रहस्यवादी सिद्धो की तरह गुह्य-साधना का घटाटोप है। फिर भी पुराने सिद्धो की रहस्यावादी भावना पर विचार करने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि विद्यापति पर इनका प्रभाव कम से क्रम दिखाई पड़ता है।

डा० सुभद्र झा ने ग्रियर्सन आदि के मत का विरोध करते हुए लिखा है कि "भारतीय प्रतीकवादी (रहस्यवादी) कवियो की कविताओं में जैसे जायसी या कवीर के काव्य में, जीवात्मा को परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा एक स्वत. परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न तो कोई आह्वान करता है। कवीर का 'सांई' या जायसी की 'पद्मावती' जो ब्रह्म के प्रतीक हैं, 'वहुरिया' या 'रत्नसेन' के लिए आकांक्षा व्यक्त नही करते।"[1] मैं विद्यापति को रहस्यवादी कवि नही मानता, पर ग्रियर्सन आदि की स्थापना के विरोध में उपर्युक्त मत वहुत सवल नही प्रतीत होता। अगर प्रतीक की दृष्टि से कथा के व्यापक प्रसंगो का व्योरेवार अर्थ बिठलाया जाने लगे तो कवीर का साईं जाने कितनी वार कवीर पर रंग डालता है—

1. Songs of Vidyapati, by Dr. Subhadra Jha, Page 183

सतगुरु हो महराज साईं मों पर रंग डारा

यही नही 'राजा राम भरतार' कबीर के घर आते हैं और वे सखियों से मंगल-गान गाने की प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार जायसी की पद्मावती रत्नसेन के कैद हो जाने पर उसे छुड़ाने के लिए न केवल प्रयत्न करती है बल्कि उसकी मृत्यु के बाद चिता में जलकर अपने शरीर को क्षार भी कर देती है। इसलिए राधा और कृष्ण के उभयपक्षी सक्रिय प्रेम को डा० झा के तर्क के आधार पर अ-रहस्यवादी सिद्ध करना कठिन है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुण सन्तों के प्रेम के विषय में ठीक ही लिखा है कि 'भक्त का भगवान के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान या ईश्वर कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है।"[1] इसलिए विद्यापति के कृष्ण यदि राधा के रूप से आकृष्ट हैं, या उससे प्रेम करते हैं या उसके प्रेम का प्रतिदान देते हैं, तो इससे उनके सर्वशक्तिमान ईश्वर रूप में कोई त्रुटि नही आती।

विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव, खास तौर से सिद्ध सूफी रहस्यवाद का प्रभाव, नही दिखाई पड़ता। क्योकि सिद्ध और सूफी दोनों ही जिन प्रतीकों का प्रयोग करते है, वे विद्यापति में नही पाये जाते। विद्यापति में न तो सिद्धों की सहज समाधि है, न षट्चक्र, न कुंडलिनी, न हठयोग और न तो मन के भीतर ही साधना द्वारा आत्मलय होने की प्रक्रिया। विद्यापति न माया की बात करते है, न ब्रह्म की और न तो किसी सद्गुरु की शरण में जाने का उपदेश देते हैं। उन्हें 'सबद' की चोट नही लगती और न तो अनाहत नाद का आकर्षण खीचता है। वे किसी अखण्ड नाद को जो जगत् के अन्तस्तल में निरन्तर गूजता रहता है, सुनने के लिए कभी दौड़े नही। न उसकी चर्चा की, न तो क्रिया-विशेष से सुषुम्ना के पथ को उन्होंने उन्मुक्त किया और न तो कुंडलिनी

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८५।

जगाकर ब्रह्मरंध्र में पहुँचाने का प्रयत्न ही किया। न तो उपाधिरहित शब्द के प्रणव तत्त्व की बात करते हैं। न तो अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्म के वाचक स्फोट की चर्चा करते हैं। उसी प्रकार उनके यहाँ 'महासुह' का वर्णन नही है। न माया का तरुवर है और न पंच विडाल। विद्यापति पर सूफी रहस्यवाद के प्रभाव की बात उठाना भी व्यर्थ है। सूफी धर्म का प्रचार शुरू हो गया था इसमें कोई शक नही, पर मिथिला की तरफ १४वी शताब्दी मे इसके प्रचार के सकेत-प्रमाण उपलब्ध नही होते है। होते भी हों तो विद्यापति के काव्य में इनका प्रभाव ढूढ़ना अनुचित है। सूफी रहस्यवाद का प्रभाव यदि विद्यापति पर होता तो शक्ति, विष्णु, माधव, राधा, शिव आदि बहुदेवो की स्तुति वे नही गाते क्योकि सूफी धर्म मूलतः एकेश्वरवादी है। सूफीमत बहुत-सी बातो में भारतीय अद्वैत मत से मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि सूफी साहित्य मे भी प्रेम साधना पर ही जोर दिया गया है। कुछेक विद्वान इसीलिए कभी-कभी रागानुगा कृष्ण-भक्ति को सूफी रहस्यवादी काव्य की प्रेम-पीर वाली प्रवृत्ति का प्रभाव भी मानने लगते है। किन्तु विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम में सूफी प्रेम-पद्धति से लेशमात्र भी साम्य नही है। विद्यापति जैसे ब्राह्मण के संस्कारी चित्त में इस विदेशी पद्धति का प्रभाव पड़ना कठिन था भी। यदि राधाकृष्ण के प्रेम मे सूफी मत का प्रभाव ढूढा जा सकता है तो जयदेव के गीतगोविन्द मे तथा अन्य सस्कृत-प्रेम-काव्यों मे भी इसके प्रभाव का अनुमान बिठलाया जा सकता है। राधा-कृष्ण का प्रेम सौ-फीसदी भारतीय है। यह प्रेम रहस्यवादी नही है, क्योकि इसमे न तो गुह्य उपासना है और न तो प्रतीकवाद। राधा जीव का प्रतीक हो सकती है, किन्तु कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक नही, वे साक्षात् ईश्वर है—इसलिए रत्नसेन और पद्मावतीवाली प्रतीक-पद्धति भी यहाँ बैठती नजर नही आती।

विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसग में रहस्यवादिता की गन्ध खोजने वाले लोगो की खिल्ली उडाते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि

"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदो को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदो को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदो की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नही बाल-लीला के पदो का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओ का कीर्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप मे लीलाएँ वर्णित है उसी रूप मे उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी जाती हैं। जहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्यरूप में है, इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नही।"[1] शुक्ल जी ने लीलाओ को नित्य माना और यह भी स्वीकार किया कि इनका कीर्तन कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में चलता है। पर विद्यापति के पदों में वे भक्ति के तत्त्व का समावेश स्वीकार करना नही चाहते। सूर आदि भक्तों के शृंगारी पद लीला-कीर्तन होने के कारण भक्ति के अन्तर्गत परिगणित हो सकते है, तो विद्यापति के शृंगारी पद क्यो नही? इसका उत्तर देते हुए शुक्ल जी ने कहा कि 'विद्यापति शैव थे, उन्होने इन पदो की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नही। विद्यापति को कृष्ण-भक्तो की परम्परा में नही समझना चाहिए।'[2] विद्यापति शैव थे, इसलिए कृष्ण भक्ति के पद नही लिख सकते और इसीलिए उनके पदो को शृंगार के पद मानना चाहिए, कृष्णभक्ति के नही, यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत नही होता।

श्री शिवनन्दन ठाकुर और अन्य कई आलोचको ने यह माना है कि विद्यापति शैव थे। श्री शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति को शैव प्रमाणित करने के लिए कई तर्क दिये है। अन्त में तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियो का सारांश देते हुए उन्होने लिखा है कि "विद्यापति के समय में मिथिला

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७—५८।
२. वही पृ० ५७।

में तान्त्रिक उपासना की प्रवलता थी। विद्यापति के ऊपर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सम्भव है तव तक 'विद्यापति अपनी उपासना का रूप स्थिर नही कर पाये थे। तव तक वे शक्ति के उपासक थे, और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी शक्ति की उपासना करवाते थे। उस समय भारत में विशिष्टाद्वैत मत का स्पष्ट प्रचार हो रहा था। उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल-मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी, विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिव जी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त और विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावित होने के कारण शिव जी को अपना इष्टदेव नही रखकर युगल मूर्ति गौरी-शंकर को अपना इष्टदेव बनाया। विद्यापति ने कहा—

लोढ़व कुसुम तोडव वल पात
पूजव सदाशिव गौरी के सात

इसमें शक नही कि विद्यापति ने शिव-गौरी पर कई स्तुतिपरक पद लिखे हैं। प्रसंग वश यहाँ उनके एतत्सम्वन्धी कुछ पदों पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें से कुछ पद केवल शंकर की स्तुति के हैं, कुछ अर्धनारीश्वर रूप में शंकर-उमा दोनों के। कुछ पद उमा-शंकर विवाह के प्रसंग के है। ऐसे पदों में लेखक ने शंकर में ईश्वरत्व-बुद्धि के साथ ही साथ जन-सामान्य की वैवाहिक रीति-पद्धति का भी समावेश किया है। ऐसे पदो में तत्कालिक मिथिला के विवाहों में होने वाले हास-विनोद आदि के भी सांकेतिक चित्र सामने आते है। विवाह के अवसर पर शंकर-पार्वती के विवाह-गीत आज भी पूर्वी प्रदेशो मे गाये जाते है। ऐसे समय पर वरपक्ष की कुरूपता और दरिद्रता का झूठा वयान करके एक खास प्रकार का विनोद पैदा करने की परिपाटी चलती है। इस परिपाटी में शंकर-पार्वती के विवाह-गीत वहुत फिट वैठते है। विनोद में कन्या के सौभाग्य का वर्णन भी रहता है। इसलिए इस प्रकार के माङ्गलिक गीत वहुत प्रचलित रहे हैं। उदाहरण के लिए विद्यापति का एक छोटा गीत देखिए—

हम नहि आज रहब यहि आगन
जो वुढ होएत जमाई, गे माई।
एक त बइर भेल बीघ विधाता
दोसर धियाकर बाप;
तेसर बइर भेल नारद बाभन
जे वुढ़ आनल जमाई गे, माई
पहिलुक बाजन डामरु तोरब
दोसरि तोरब मुंड माल
बरद हाँकि बरियात बेलाइब
धिया ले जाएब पराई, गे माई
धोती लोटा पतरा पोथी
एहो सब लेबन्हि छिनाई
जौ किछु बजता नारद बाभन
दाढ़ी धएब घिसिआएब, गे माई
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन
दृढ़ करु अपन गेयान
सुभ सुभ कए सिरी गौरी विआहू
गौरी हर एक समान, गे माई।

कन्या के भविष्य के बारे में माँ की चिन्ता, ईश्वर का फटेहाल दूल्हा वनकर आना, नारद ऋषि की दुरवस्था और व्यंग-विनोद के अन्तराल में पार्वती के अशेष मंगल और सौभाग्य की सदिच्छा कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है।" पं०-शिवनन्दन ठाकुर के कथन में कोई तथ्य नही मालूम होता, हाँ एक बात उन्होने अलबत्ता अनजाने मे स्वीकार कर ली है जो विद्यापति के काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए जरूरी है, वह यह कि उस समय मिथिला में विशिष्टाद्वैत मत का प्रावल्य था। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि "गौरी-शंकर के विवाह गीत मिथिला में विवाह के अवसर पर गाये जाते है। शिवनन्दन ठाकुर विद्यापति को शैव

मानते है इसीलिए उनके द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण प्रेम को सामान्य शृंगार-काव्य की कोटि में ही रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि मिथिला में ईश्वर की पूजा पति के रूप मे कभी नहीं होती थी।"[1] डा० सुभद्र झा ने ठाकुर के इस मत को गलत बताया है और उन्होंने विष्णुपुरी की कविताओ का उद्धरण देकर बताया है कि "मिथिला मे प्रेम-भक्ति की कवितायें लिखी गई थी।"[2] खैर, हम यहाँ शिवनन्दन ठाकुर तथा आचार्य शुक्ल के इस तर्क पर विचार करना चाहते हैं कि क्या विद्यापति चूंकि शैव थे, इसलिए वे राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति का काव्य नहीं लिख सकते थे। शैव और वैष्णव धर्म का वैमनस्य, जैसा उग्र बाद मे हुआ, विद्यापति के समय में नही था। ईस्वी सन् १००० के आसपास उत्कीर्ण खजुराहो के शिलालेख मे भगवान् शिव को एकेश्वर कहा गया है तथा विष्णु, बुद्ध जिन आदि को उन्ही का अवतार कहा गया है।[3] वायुपुराण मे ही शिव और विष्णु के तादात्म्य का विवरण मिलता है—

प्रकाशं चाप्रकाशं च जंगमं स्थावरं च यत्।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम्

(२५।२०)

विष्णुपुराण में विष्णु और शिव को एक बताया गया है—

शंकरो भगवान् शौरिर्भूति गौरी द्विजोत्तम
नमो नमो विशेषस्त्वं ब्रह्मात्वंहि पिनाकधृक्

(१।८।२१)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'जो लोग विद्यापति के वारे में कहा करते है कि वे शैव थे अतः वैष्णव भक्त नहीं हो सकते, वे उस काल की मनःस्थिति को नही जानते। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहडवाल नरेश अपने को माहेश्वर कहते थे, पर वे

१. महाकवि विद्यापति, पृ० १६४।
२. Songs of Vidyapati, by Dr. Subhadra Jha, Page 184-85
३. डा० यदुवंशी का शैवमत पृ० १४१।

लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे।"[1] विद्यापति ने एक स्तुति-पद में विष्णु और शिव की समवेत स्तुति की है—

भल हर भल हरि भल तुअ कला
खन पीत वसन खनहि बघछला
खन पंचानन खन भुजचारि
खन सकर खन देव मुरारि
खन गोकुल भए चराइअ गाय
खन भिखि-मागिय डमरू बजाय
खन गोविन्द भये लिअ महादान
खनहिं भसम भरि आँख ओ कान
एक सरीर लेल दुइ बास
खन बैकुंठ खनहिं कैलास
भनहिं विद्यापति विपरीत बान
ओ नारायण ओ सूलपानि

इस पद में न केवल विद्यापति ने शंकर और विष्णु को एक बताया बल्कि विष्णु-लीलाओं में मुख्य गोकुल में गाय चराना, और गोविन्द के रूप में दधि का महादान लेने वाला बताया है। हरि और शंकर के इसी समवेत रूप को वाद में तुलसीदास ने अपनाया और उसे विस्तृत भूमिका प्रदान की—

रुचिर हरिशंकरी नाम मंत्रावली द्वन्द्व दुख हानि आनन्द खानी
विष्णु शिव लोक सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास बिसद बानी

शिव और विष्णु की वन्दना के साथ-साथ विद्यापति ने शक्ति या दुर्गा की भी स्तुति के पद लिखे हैं। इसलिए कोई शक्ति या मौलिक बात कहने का इच्छुक आलोचक कहना चाहे तो यह भी कह सकता है कि चूंकि विद्यापति शाक्त थे इसलिए उन्होंने राधा के रूप में आद्याशक्ति की लीलाओ का चित्रण किया है। वस्तुस्थिति को न समझने के कारण इस

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३९।

प्रकार के तर्कों के आधार पर किसी कवि के दृष्टिकोण तथा धार्मिक विश्वासो का विवेचन नहीं किया जा सकता। विद्यापति के समय में मिथिला मे क्या सम्पूर्ण उत्तर भारत में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों प्रकार के मतों का काफी प्रचार हो गया था। कामरूप और हिमालय की तराई के हिस्सों में शाक्त-साधना का काफी प्रचार था। इसका प्रभाव विद्यापति पर कितना पड़ा, यह कहना कठिन है किन्तु शक्ति का रूप सदा से भारतीय कवि को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। शक्ति के भी विविध रूप हैं। राधा स्वयं परमेश्वर की आह्लादिनी शक्ति कही गई है। पुराणो में अनेक स्थलो पर प्रकृति को विष्णु-माया कहा गया है। शक्ति की व्यापकता और सार्वभौमता अक्षुण्य है। राधा-तत्त्व कई दृष्टियो से काश्मीरी शैवदर्शन में व्याख्यात शक्ति-तत्त्व से समानता रखता है। पुराणो मे वर्णित वैष्णव शक्ति-तत्त्व और शैवागमो में वर्णित शक्ति-तत्त्व में रूप का अन्तर नहीं, नाम का अन्तर ही ज्यादा है। विद्यापति ने शक्ति के इसी सार्वभौम रूप की वन्दना की है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती
एकानेक सहस को धारिनि, जनि रंगा पुरनन्ती
कज्जल रूप तुअ काली कहिए, उज्ज्वल रूप तुव वानी
रवि मंडल परचंडा कहिए, गंगा कहिए पानी
ब्रह्मावर ब्रह्माणी कहिए, हर घर कहिए गोरी
नारायण घर कमला कहिए, के जान उतपति तोरी
विद्यापति कविवर एह गाओल, जाचक जन के गती
हासिनि देइ पति गरुण नारायण, देवसिंह नरपती

इस प्रकार विद्यापति की शक्ति-वन्दना मे मध्यकालीन तान्त्रिक साधना का प्रभाव ढूंढ़ा जाये तो कोई आपत्ति नही, किन्तु साधारण तौर से हम इसे एक हिन्दू कवि के चित्त का दुर्गा के प्रति भक्ति-निवेदन ही कहें तो ज्यादा ठीक होगा। इन सभी देवताओं की वन्दना को दृष्टि में रखकर म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कहा था कि विद्यापति वस्तुतः पंचदेवोपासक थे।

कीर्तिलता के बंगीय संस्करण में शास्त्री जी ने उक्त मत प्रस्तुत किया। किन्तु विद्यापति को पंचदेवोपासक मानें या शुद्ध चित्त का एक हिन्दू, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि उनकी रचनाओं को शृंगारिक माने या वैष्णव भक्ति-पूर्ण। इस प्रश्न का उत्तर विद्यापति के काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उनके व्यक्तिगत जीवन की स्थितियों, वातावरण आदि को समझे बिना नहीं दिया जा सकता। धार्मिक वातावरण की चर्चा की गई, विद्यापति के काल में उपर्युक्त सभी धर्म कमोबेश मात्रा में प्रचलित थे। विद्यापति ने प्रत्येक देवी-देवता की वन्दना की। यहाँ तक कि उन्होंने राधा की वन्दना में भी पद लिखे हैं, जसे—

✓ देखि देखि राधा रूप अपार
अपरूप केहि विधि आन मिलाओलि
खित्ति तल लावनि-सार
अंगहि अग अनंग मुरछायत
हेरए पड़ए अधीर
मन्मथ कोटि मथन करु जे जन
से हेरि महि मध गीर
कत कत लछमी चरन तल नेओछये
रंगिनि हेरि विभोरि
करु अभिलाख मनहि पद पंकज
अहो निसि कोर अगोरि

इस पद में राधा जगत्धात्री की पीठिका पर आसीन है। उनके रूप के सामने सम्पूर्ण जगत् का सौन्दर्य फीका है। कामदेव को भी अपने रूप से विजित करने वाले कृष्ण इस सौन्दर्य को देखकर सज्ञाहीन हो जाते हैं। सहस्रों लक्ष्मी राधा के चरणों में न्योछावर हैं। राधा का यह देवीसूक्त वाला रूप है जिसके सामने देव-देवता सब तुच्छ और निर्वल है।

कहने वाले कह सकते है कि 'विहारी सतसई' के लेखक ने भी ग्रन्था-रम्भ में राधा की वन्दना की है, किन्तु उनका काव्य कभी भक्ति काव्य

नही माना गया, फिर विद्यापति का ही क्यों माना जाय ? इसके उत्तर मे एक चलता तर्क यह दिया जा सकता है कि बिहारी की रचना किसी भी परवर्ती वैष्णव भक्त द्वारा कीर्तन का विषय नही मानी गई जबकि विद्यापति की रचनाएँ एक व्यापक क्षेत्र में कीर्तन मे गाई जाती थीं। महाप्रभु चैतन्यदेव विद्यापति की रचनाओं को गा करके मस्त हो जाया करते थे। विद्यापति के परवर्ती, व्रजबुलि कवि गोविन्ददास ने लिखा है कि विद्यापति का काव्य कितना गौरवपूर्ण है, गोविन्द-गौरि (राधा-कृष्ण) के प्रेम पर लिखे हुए जिनके गीतो ने संसार का हृदय जीत लिया। गौड़ीय वैष्णवो का तो यहाँ तक कहना है कि विद्यापति का जन्म ही इसीलिए हुआ था कि वे चैतन्य महाप्रभु के अवतार के पहले इस पृथ्वी पर आकर राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति के गान लिखे जिन्हें महाप्रभु कीर्तन में गायेंगे। कृष्णदास ने लिखा है कि चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के गीतों को बड़े प्रेम से सुनते थे।

कर्णामृत विद्यापति श्री गीतगोविन्द
दुहें श्लोक गीते प्रभुर कराय आनन्द

(चैतन्य चरितावली ३।५)

वस्तुत· विद्यापति शृंगारिक कवि थे या भक्त इसे समझने के लिए भक्ति-काल की सास्कृतिक पृष्ठभूमि समझना अनिवार्य हो जाता है। हमारे मन, में शृंगार और भक्ति के विषय में कई मिथ्या धारणायें बद्धमूल हो गई हैं। शृंगार भक्ति का विरोधी नही है। विद्यापति के काव्य में इस शृगार का ऐसा रूप क्यो है—इसे हम पूरी पृष्ठभूमि में रखकर देखने पर ही समझ सकते हैं। नखशिख वर्णन केवल शृंगारिक कवियों ने नही प्रस्तुत किये हैं। रूप वर्णन की वैष्णव शैली में किन-किन तत्त्वो का समावेश हुआ, यह भी जानना आवश्यक है। रूपासक्ति और रूपोपासना मे क्या फर्क है। राधा क्या है—राधा के स्वरूप का विकास किन-किन तत्त्वो के सम्मिश्रण से हुआ ? राधा के किस रूप की विद्यापति स्तुति करते हैं, आदि प्रश्न इस सास्कृतिक पृष्ठभूमि के आकलन के बाद ही समाहित हो सकते हैं।

भक्ति काव्यः सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पुनःपरीक्षण

ईस्वी सन् की सातवी शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी काव्य-धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरंगावलि और अनन्त जनता के मन को नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जल-धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्ययुग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्रमिश्रित सयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्ति काल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्यमंडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया मे पला हुआ या ईसाइयत का अनुकरण बताने वाले लोगो पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डा० ग्रियर्सन, वेवर, कैनेडी यहाँ तक कि भारतीय पंडित डा० भाडारकर ने भी यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डा० ग्रियर्सन ने नेस्टोरियन ईसाइयो के धर्ममत का भक्ति-आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओ को उनका ऋणी साबित किया।[2] वेवर ने कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव की सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए

१. पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा संपादित सुन्दर ग्रंथावली का प्राक्कथन संवत १९९३।

२. जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, 'हिन्दुओं पर नेस्टोरियन ईसाइयों का ऋण' शीर्षक निबन्ध।

कृष्ण-जन्म की कथा को ईसामसीह की जन्म-कथा से जोड़ दिया।[1] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबंध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गजरो से कृष्ण का सम्बन्ध है और चूंकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमे प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल-प्रदेश के किसी धर्ममत से मिली होगी।[2] डा० भांडारकर ने इन्ही सब मतो का जैसे एकत्र सयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि आभीर ही शायद बाल-देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होंने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्टधृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन मे यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता हैं तथा कंस द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या क्राइष्ट-जन्म की तत्संबंधी घटनाओ से पूर्णतः साम्य रखते है। यह सब कुछ भांडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[3]

इन मतो को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वाग्रह और न्यस्त-अभिप्राय थे जिनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानो ने संकोच नही किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परमत सहिष्णु और आश्रित-वत्सल रहा है। दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिणी हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागत-वत्सल भारत नें उन्हे बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नही था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।'[4] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों

१. इण्डियन ऐन्टिक्वैरी भाग ३-४ में 'कृष्ण-जन्माष्टमी पर लेख।
२. जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित 'कृष्ण क्रिश्चियानिटी और गूजर शीर्षक निबन्ध।
३. वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८-३९।
४. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७।

की धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा सन्तुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट-फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य-दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलवनपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[1]

भक्ति आन्दोलन के विकास के पीछे ईसाइयत के प्रभाव की बात की गई है। उसी प्रकार कुछेक विद्वानो की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप में दिखाई पड़ा। इस धारणा का भी प्रचार करने मे विदेशी विद्वानो का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आव आर्यन रूल' में लिखा कि "मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गए। इसलिए दुनिया की झझटो से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।[2] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारो ने इसी मत को स्वीकार किया है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति-आन्दोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश मे मुसलमानो का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव-गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर वहुत दिनो तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[3] बहुत से लोग सोचते है कि शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का मल कारण

---

१. सूर साहित्य, संशोधित १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १९।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका में डा० द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृ० १५।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० ६०।

मुसलमानी आक्रमण को बताया, किन्तु ऐसी बात नही है। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षो का भी विश्लेषण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही है, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियो की साहित्य-साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्धि' के नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास में इनकी वाणियो से कोई प्रभाव नही पडा। "प्रभाव यदि पड सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्-भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मत्र, और उपचारों में जा उलझी।"[1] अत स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से ऐसी रचनाओं का भक्ति के विकास में कुछ महत्त्वपूर्ण योग-दान नही था। भक्ति का सैद्धान्तिक विकास 'ब्रह्म सूत्रो पर, उपनिषदो पर, गीता पर, भाष्यो की जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमे हुआ।'[2] भक्ति के विकास में सहायक तीसरा तत्त्व शुक्ल जी के मत से "भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[3] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका-ग्रन्थो में ढूंढ़ना बहुत उचित नही कहा जा सकता क्योकि सभी टीका ग्रन्थ भारतीय मनीषा की मौलिक उद्भावना और जीवन्त बुद्धि का परिचय नही देते। शुक्ल जी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते है। शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि दक्षिण मे भक्ति विकसित हो रही थी और उसका प्रभाव उत्तर मे पडने लगा था। मुसलमानी आक्रमण के कारण भक्ति का उदय नही हुआ, भक्ति का स्वाभाविक विकास इस आक्रमण ने कुछ तीव्र अवश्य कर दिया। क्योकि

१. वही पृ० ६१।

२. वही, पृ० ६२।

३. वही पृ० ६२।

यदि मुसलमानी आक्रमण के कारण जनता में दयनीयता का उद्भाव हुआ जिससे भक्ति के विकास में सहायता मिली, तो मुसलमानो के आक्रमण से प्राय. सुरक्षित दक्षिण मे यह 'भक्ति का सोता' कहाँ से पैदा हो गया जो उत्तर मे प्रभावित होने लगा था।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओं का सकेत देने वाले तत्त्वो का सन्धान करते हुए वताया है[1] कि बौद्धमत का महायान सम्प्रदाय अन्तिम दिनों में लोकमत के रूप में परिणत होकर हिन्दू धर्म में पूर्णत. घुलमिल गया। पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान मत के काल मे होने लगा था। हिन्दी भक्ति साहित्य में जिस प्रकार के अवतार-वाद का वर्णन है, उसका संकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धो और नाथ योगियो की कविताएँ हिन्दी सन्त साहित्य से पूर्णतया संयुक्त है, इस प्रकार सन्त-मत का उद्भव मुसलमानों के आक्रमण के कारण नही, बल्कि अपनी भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदी जी की यह स्थापना है कि अगर इस्लाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'[2]

वस्तुत. इन सभी प्रकार के वाद-विवादो का मूल कारण है भक्ति-सम्बन्धी प्राचीन साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति काव्य आन्दोलन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीतगोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते है। व्रजभाषा भक्ति साहित्य का आरम्भ सूरदास के साथ मानते है, रामभक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन संत काव्य ही ले-देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका का भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय।

२. वही, पृ० २।

आरम्भ मानने वाले लोग इसे 'मुसलमानी जोश' का साहित्य कहकर गोटी विठा देते है। इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी वद्धमूल हो गई है, जो भक्ति काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में वाधा पहुँचाती है वह यह कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजें है। इस प्रकार के विचार वाले आलोचक सगुण काव्य को तो भारतीय परम्परा से सम्वद्ध मानते है और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते है। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धाराच्युत कर देने पर सगुण भक्ति काव्य को छठी शती में उत्पन्न मानना पड़ता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियों के लिए १२वी शती के जयदेव और १४वी के विद्यापति एकमात्र प्रेरणा-केन्द्र वच जाते हैं। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खासतौर से व्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के वाद माना है।[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि 'सोलहवी शताव्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन वह सव का सव या तो संस्कृत में है जैसे जयदेवकृत गीतगोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिलकोकिलकृत पदावली। व्रजभाषा में लिखी हुई सोलहवी शताव्दी से पहले की रचनाएँ उपलव्ध नही है।'[2] जाहिर है कि यदि गीतगोविन्द और विद्यापति पदावली के अतिरिक्त भक्ति का परिचय देनेवाली इतर सामग्री मिलती तो इस प्रकार का व्यवधान उपस्थित न होता।

भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि की खोज के लिए हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का पर्यवेक्षण करना होगा। भागवत कृष्ण काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत् के रूप में पूजित होने लगे थे। संस्कृत साहित्य में कई स्थानो पर कृष्ण की अवतार के रूप

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १५२।

२. नाम महात्म्य, श्री व्रजांक, अगस्त सन १९४० व्रजभाषा नामक लेख।

मे अभ्यर्थना की गई है। भागवत के अलावा हरिवंश पुराण, नारद पंचरात्र, आदि धार्मिक ग्रन्थो में कृष्ण-लीला का वर्णन आता है। भास कवि के संस्कृत नाटको में जो कुछ विद्वानो की राय में ईसा पूर्व लिखे गए थे, कई ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। परवर्ती संस्कृत काव्यों शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यो का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीत गोविन्द तो कृष्ण भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

व्रजभाषा की जननी शौरसेनी अपभ्रश भाषा में भी कृष्णसम्बन्धी काव्य लिखे गए। आश्चर्य है कि अब तक इन रचनाओ की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट नही हो सका है। अपभ्रंश मे कृष्णसम्बन्धी जो कुछ भी साहित्य अवशिष्ट है और जिसका सन्धान हो सका है, वह व्रज-भाषा के सगुण कृष्ण भक्ति आन्दोलन को समझने में बहुत सहायक हो सकता है। इनमें सर्वाधिक महत्त्व की रचना पुष्पदन्त कवि का महापुराण है जिसमे कृष्ण-जीवन का विशद् चित्रण किया गया है। इसमें कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का पता नहीं चलता। कृष्ण-जीवन से सम्वन्धित घटनायें निःसन्देह भागवत् या हरिवंशपुराण के आधार पर ली गई है। गोपियो के साथ कृष्ण का विहार, (उत्तर पुराण पृ० ६४।६५) पूतना लीला (उ० पुराण ६) ओखल वन्धन, गोवर्धन-धारण (उ० पु० १६) कालिय-दमन आदि की घटनायें भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती हैं। पुष्पदन्त ने कृष्ण के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है उनमें गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते है। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियो की उत्सुकता, प्रेम विह्वलता और असामान्य व्यवहारो का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती विद्यापति या सूरदास आदि में। कोई-कोई आधे विलोए दही को वैसे ही छोड़ कर भागी, किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने मथानी तोड़ दी, इसका दाम चुकाओ एक आलिगन देकर। कही गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया

से काली हो जाती है, इस प्रकार धूलिधूसर कृष्ण उन गोपियो को क्रीडा-रस से वशीभूत कर लेते हैं—

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
कीला रस वसेण गोवालय गोवी हियय हारिणा
मदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्धविरोलिउं दहिउं पलोट्टिउ
कावि गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी
एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु
काहि वि गोविहि पंडरु चेलउ, हरि तणु तेंइ जायउं कालइउं
(उत्तर पुराण पृ० ६४)

भागवत से अत्यन्त प्रभावित होते हुए भी पुष्पदंत की कथा मे कृष्ण भक्ति का स्फुट स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी रास क्रीडा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते ही हैं कि कृष्ण के रास का महत्व १०वी शती के एक जैन कवि के निकट भी कम नही था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदंत का यह वर्णन गीतगोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद में भी कई जैन कवियो ने कृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखे परन्तु कृष्ण को भगवान् के रूप में चित्रित नही किया गया। वे एक महाप्राणवान पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित काव्यो मे तो उनकी कही-कही दुर्गति भी दिखाई गई है।

१२वी शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा सकलित अपभ्रंश के दोहो में दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्णसवंधी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एतत्संवंधी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश हैं। दोहे इस प्रकार हैं—

हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्वहि राह पओहरहं जं भावइ तं होउ

हरि को प्रांगण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरो को जो भावे सो हो। संभवत. यह किसी हास्य प्रगलभा सखी के वचन राधा के प्रति कहे गए हैं। इस पद में राधा कृष्ण के प्रेम

का सकेत तो मिलता है; किन्तु इस प्रेम को भक्ति-संयुक्त मानने का कोई स्पष्ट सकेत नही मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है—

मइं भणियउं वलिराय तुहु केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइं नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और वलि की कथा का सकेत मिलता है, इसमे भी हम वहुत अगो तक भक्ति के मूल भावों का निर्दशन नही पाते। फिर भी ये दोहे प्रारम्भिक व्रजभाषा के अज्ञात कृष्णकाव्यो की सूचना तो देते ही है। इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नही होता। प्रवन्धचिन्तामणि में भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमें राजा बलि की कथा को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गई है—

अम्मणिओ सदेसडो तारय कन्ह कहिज्ज
जग दालिद्दिहि डुव्विउ वलिवधणह मुहिज्ज

मेरा संदेशा उस तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्रय में डूब रहा है अब तो बलि को बन्धन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारअ' शब्द महत्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्म बुद्धि का पता चलता है।

कृष्ण-भक्तिकाव्य का वास्तविक रूप पिंगल व्रजभाषा में चौदहवी शती के आस-पास निर्मित होने लगा था। प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४वी शती के आसपास माना जाता है। यह एक सकलन ग्रंथ है जिसमे १४वी शती तक के पिंगल व्रजभाषा के काव्यों में छन्दों के उदाहरण छाँटे गए थे। इसमें कृष्णभक्ति सम्बन्धी कई पद्य संगृहीत है। कृष्ण के अलावा शंकर, विष्णु आदि से स्तुति के भी कई पद दिखाई पडते हैं। एक पद में दशतावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यो का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्वो का संधान मिलता है। प्रेम-भक्ति का बड़ा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यों में भी आत्मनिवेदन तथा

प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शिव सम्बन्धी स्तुति में शंकर के रूप का चित्रण देखिए—

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमंह विलसइ
नयन अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ
सुरसरि सिर मंह रहइ सयल जण दुरित वमण कर
हसि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अभय वर
(१६०।१११)

रामसम्बन्धी स्तुति का एक पद—

वघउ उक्कि सिरे जिणि लिज्जिउ तेज्जिय रज्ज वणंत चले विणु
सोहर सुदरि संगहि लग्गिय मारु विराध कवध तहाँ हणु
मारुइ मिल्लिय वालि विहंडिय रज्ज सुगीवह दिज्ज अकटक
वंध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ निब्भय

स्तुतिपरक पद्यो में राम, शिव या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप में की गई है और वे दीनों पर कृपा करनेवाले तथा अभय देने वाले इष्टदेव के रूप में चित्रित किए गए है किन्तु सर्वाधिक महत्व के कृष्णसम्बन्धी वे पद्य है जिनमे कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पद्यों में कवि ने बडे कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें चिन्मय सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता में गोपियो के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदों में मिलताहै। इनमें से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से भाव-साम्य रखते है।[1]

१. जयदेव के गीतगोविन्द के तीन-चार श्लोक प्राकृत पैंगलम के कुछ पदों से अद्भुत साम्य रखते हैं। वेदानुद्धरते'-वाला श्लोक जिण वेअ धरिज्जे, महियल लि ज्जे' वाले पद से अक्षरशः मिलता है। उसी प्रकार जं फुल्लक फुल वण' वाला (प्राकृत पैंगलम्) पद भी एक श्लोक से पूर्णतः साम्य रखता है। इस विषय में विस्तार के साथ 'सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध में विचार किया गया है।

नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चंचलता के कारण नाव को हिला डुलाकर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यो के पीछे छिपे मन्तव्य को पहचान कर भय का बहाना बताती हुई प्रेमविह्वला गोपी कहती हैं—

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि सतार देइ जो चाहइ सो लेहि
(१२।६)

यह स्वतंत्र मुक्तक पद भी हो सकता है किन्तु संदर्भ को देखते हुए लगता है की नौका-लीला-सम्बन्धी किसी बड़ी कविता का एक स्फुट पद्य है। एक दूसरे पद्य में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का संकेत करते हुए उनकी स्तुति की गई है। यह पद्य वैसे मूलत स्तुतिपरक नही है। किन्तु एक पक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-सम्बन्धो पर भी प्रकाश पड़ता है। कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें प्रेम-भक्ति के भी तत्व दिखाई पड़ते है। मधुर भाव की भक्ति का यह संकेत ऐतिहासिक महत्व रखता है। राधा तत्व के क्रमिक विकास का अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० शशिभूषण दास गुप्त ने लिखा है कि 'सस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देश भाषा में ही राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव पदावली पन्द्रहवी सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बंगला के कवि चण्डीदास की रचनाओ में पाते है।'[1] प्राकृत काव्य से डा० दासगुप्त का मतलब गाथासप्तसती आदि में पाये जाने वाले उन शृंगारिक प्रसंगो से है जिसका सम्बन्ध वे राधाकृष्ण प्रेम से अनुमानित करते है।'[2] उन्होंने इसी प्रसंग में प्राकृत पैंगलम् की एक गाथा भी उद्धृत की है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है कि 'परवर्ती काल में (गाथा सप्तसती से) सगृहीत प्राकृत पिंगल नामक छंद के ग्रथ में जो प्राकृत गाथायें उद्धृत मिलती है

१. राधाका क्रमविकास, हिन्दी संस्करण सन् १९५६ काशी, पृ० २७६-७७।
२. देखिये, वही पुस्तक, पृ० १४६।

उसके कितने ही श्लोको और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर में समानता लक्षणीय है जैसे—

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
णच्चे विज्जु पिय सहिया, आवे कंता कहु कहिया।[१]
(वर्णवृत्त ८१)

जाहिर है कि डा० दासगुप्त ने इस ग्रथ को अत्यन्त शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हे परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृत पैंगलम् के कुछ छन्दो की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृत-वर्णन सम्बन्धी सामान्य वर्णन से संतोष न करना पडता। प्राकृत पैंगलम् में कृष्ण राधा के प्रेमसम्वन्धी कई अत्यन्त उच्चकोटि की कवितायें संकलित हैं। एक छन्द ऊपर दे चुके है, दूसरा इस प्रकार है :—

जिणि कंस विणासिअ किति्त पयासिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
कालिय कुल संहार करे जस भुवण भरे
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीअ हरा
(३२४।२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप मे कृष्ण को परम दैवत या परमात्मा वुद्धि से स्मरण किया गया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का संकेत है कि १४वी शताब्दी के पहले यानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देशी भाषाओ मे मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।

१. वही, पृ० १५७।

इस ग्रथ में पाये जाने वाले अन्य कृष्णस्तुतिपरक पद्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

१—परिणअ ससिहर वअणं विमल कमल दल नयण
विहिअ असुर कुल दलणं पणयह सिरि महु महणं
(४२१।१०९)

२—भुवण अणंदो तिहुअण कंदो
भवर सवण्णो स जअइ कण्हो
(३६५।४९)

प्राकृत पैंगलम् में एक पद्य ऐसा भी प्राप्त होता है जिसमें शंकर और कृष्ण की साथ-साथ स्तुति की गई है । हालाकि शिव और कृष्ण की युग्म-भाव की स्थिति का या सम-भाव की स्थिति का यह चित्रण नही है जैसा विद्यापति के एक पद मे मिलता है, जिसमे शिव और कृष्ण को एक ही ईश के दो रूप कहा गया है, फिर भी एक ही श्लोक मे दोनो देवताओ की उपासना का महत्व है ।

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
तिलइअ सुन्दर चद मुनि आणंद जन कद
वसह गमन कर तिसुल डमरु धर
णयणहि डाहु अगण सिर गंग गौरि अधंग
जयइ जयइ हरि भुअ जुअ धरु गिरि
दहमुह कस विणासा, पिय वासा सुन्दर हासा
बलि छलि महि हरु असुर विलय करु
मुणि जण मानस सुह भासा, उत्तम वंसा
(५६८।२१५)

नवी-दसवी शताब्दी में शैव और वैष्णव दोनो ही मतो में बहुत से तत्व एक दूसरे में घुल-मिल गए थे । यह सत्य है कि भारतीय इतिहास का उस काल में तथा उसके कुछ बाद तक शैवो और वैष्णवों में बहुत भयंकर कलह हुआ । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'समूचा उत्तर-भारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखंड भक्ति बनी हुई

थी, किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय।[१] विद्वानों की धारणा है कि शैवो और वैष्णवो का कलह गोस्वामी तुलसीदास के काल तक किसी न किसी रूप मे चलता रहा इसीलिए उन्होंने शैव और वैष्णव मतो के समन्वय की बहुत कोशिश की। सेनवंशीय विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का मदिर बनवाया था जिसके एक लेख में शंकर और विष्णु की मिश्र मूर्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।

लक्ष्मीवल्लभ—शैलजादयितयोरद्वैतलीला गृहं
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे

इस प्रकार हम यह कह सकते है कि शैव और वैष्णव मतों मे समन्वय का प्रयत्न सेनवंशीय राजाओं के काल में ही आरम्भ हो गया था। प्राकृत-पैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक मे वर्णित शिव और विष्णु की मिश्र-मूर्ति का वर्णन नही किया गया है और न तो विद्यापति की तरह :

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत वसन खनहि वघछला-

वाली मूलतः एक किन्तु प्रतिक्षण दोनों ही रूपों में दिखाई पड़ने वाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है किन्तु एक ही पद में 'जयति शंकर' और 'जयति हरि' कहने वाले लेखक के मन में दोनों के प्रति समान आदर की भावना अवश्य थी ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। जो लोग विद्यापति के शैव या वैष्णव होने पर विवाद किया करते हैं, उन्हें इस सास्कृतिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखना चाहिए।

कृष्ण-भक्तिसम्बन्धी काव्य का अगला विकास सत कवियों की रचनाओं में हुआ। संत कवि प्राय. निर्गुण मत के माने जाते है इसीलिए उनकी सगुण भावना की कविताओ को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज अभिव्यक्तिपूर्ण कविताओ के भीतर रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३९।

अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनो बिल्कुल भिन्न धारायें मान ली जाती है वस्तुतः ये दोनों मूलतः एक ही प्रकार की साधनायें है। जैसा आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि 'जहाँ तक ब्रह्म' हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते है, पर यही तक इसकी इयत्ता नही है। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते है।"[1] ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधन का प्रयोग करता है, वही सीमित है, ब्रह्म का दर्शन इसी सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की संज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करने वालो की बडी कड़ी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणो के आधार पर दोनो मतों को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्म की निराकार स्थिति को अस्वीकार नही करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञानमार्गी साधन को ठीक नही मानते थे। श्री मद्भागवत के एक श्लोक में बताया गया है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते है—ब्रह्म, परमात्मा, और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय सत्ता है। जो भक्त ब्रह्म के इस चिन्मय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते है वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते है या जान पाते है, इस मत के अनुसार केवल ब्रह्मज्ञान स्वरूप ब्रह्म ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते है जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासको में शक्ति और शक्तिमान का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तीसरा रूप सर्वशक्तिविशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियो का ज्ञान केवल सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त को ही प्राप्त हो सकता है—

---

१. भक्ति का विकास, सूरदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित, बनारस।

तोहे जनम पुनि तोहे समाइत
सागरि लहरि समाना
भनइ विद्यापति सेष सयनमय
तुअ विनु गति नहि आरा
आदि अनादिक नाथ कहाओसि
अब तारन भार तोहारा

विद्यापति को जो लोग मात्र श्रृंगारिक कवि कहते हैं संभवतः ऐसे पदों पर ध्यान देना नही चाहते; किन्तु इन पदो का ऐतिहासिक महत्त्व है। विद्यापति के ये पद न केवल उस समय की भक्ति-पद्धति की एक खास विशेषता की सूचना देते हैं बल्कि इनसे यह भी मालूम होता है कि उनके स्तुतिपरक पद सगुण और निर्गुण दोनो प्रकार के भक्ति-काव्यों की परंपरा में और उन्हें प्रभावित करने वाले हैं।

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादो के चक्कर में पड़कर जीव कष्टों की गठरी ही बाँधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्राम करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है, इन प्रपंचो को कबीर समझते है इसलिए वे विश्वास से कहते है, 'मै तो तुझे छोड़कर और किसी की शरण में नही जाना चाहता—

गोविन्दे तुम पैं डरपौ भारी
सरणाई आयों क्यूं गहिए यह कौन बात तुम्हारी
धूंप दाझं तैं छाँह तकाई मति तरवर सचु पाऊँ
तरवर मांहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ।१।
तारण तरण तरण तारण तू और न दूजा जानौ
कहैं कबीर सरनाई आयो आन देव नहिं मानौ ॥[1]

कबीर के पदों, साखियों तथा अन्य अस्फुट रचनाओं में भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की बड़ी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुर भाव का बीजांकुर कबीर की रचनाओ मे मिलता है। यह सत्य है

कि ये रचनायें रहस्य की प्रवृत्ति से रंगी हुई है और इनमें निराकार परमात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुखदु:ख का चित्रण है किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यजना का यह रूप सगुण मत के कवियों को अवश्य ही प्रभावित किये होगा क्योंकि उनकी रचनाओं में इसी भाव की समानान्तर पक्तियाँ मिल जाती हैं।

नैना अंतर आव तू ज्यू हौ नैन झपेउ
ना हौं देखो और कू ना तुझ देखन देउं

(कबीर)

इसी प्रकार की पंक्तियाँ मीरां के एक पद में भी आती हैं। प्रेम की वेदना से तप्त जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजंग इस शरीर को अपनी गुजलक में लपेटे है, राम का वियोगी कभी जीवित नही रह सकता—

विरह भुवंगम तन वसै मंत्र न लागै कोइ
राम वियोगी ना जिवै जिवै त बौरा होइ

(मीरां)

तुम बिनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहे तुम क्यो जीवें दूरि
आप अपरछन होइ रहे यह क्यों रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ

(दादू)

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान
छूटि गए कैसे जन-जीवत ज्यो पानी मिनु प्रान

(सूरदास)

रैदास मोह-पाश में बाँधने वाले ईश्वर को चुनौती देते हुए कहते है कि तुम्हारे वन्धन से तो हम तुम्ही को याद करके छूट जायेंगे किन्तु माधव हमारे प्रेम-बधन से तुम कभी न छूट सकोगे—

जउ हम बांधे मोह फास हम प्रेम वधनि तुम बाधे
अपने छुटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे
माधवे जानत हहु जैसी तैसी। अब कहा करहुगे ऐसी ।।

रैदास उस अनन्त सौन्दर्य-मूर्ति पर निछावर हैं। यदि उनका प्रिय विशाल गिरिवर है तो वे उसके अन्तराल में निवास करने वाले मयूर हैं, यदि वह चाँद तो ये चकोर। रैदास कहते हैं कि माधव, यदि तुम प्रेम के इस बन्धन को तोड़ भी दो तो हम कैसे तोड़ सकते हैं, तुमसे तोडकर और किससे जोड़ें—

जउ तुव गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुव चद तउ हम भये हैं चकोरा
माधवे तुम तोरहु तउ हम नाँहि तोरहिं।
तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहिं ।।

रैदास की इस प्रकार की कविताओ में प्रेम की जिस सहज अनुभूति और पीड़ा की विवृति हुई है क्या वह परवर्ती काल में सूर की विरहिणी गोपियो की अनुभूतियो से मेल नही खाती? सूर की गोपियाँ भी इस प्रकार की परिस्थिति म यही कहती हैं :

तिनका तोर करहु जनि हमसों एक वास की लाज निवाहियो
तुम विनु प्रान कहा हम करिहैं यह अवलंब न सुपनेहु लहियो

कृष्ण भक्ति काव्य के विकास में संगीतकार कवियो ने भी कम योग नही दिया। सगीतज्ञ कवियो ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यंजना प्रदान की, उन्होंने न केवल अप्रतिम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घायुष बनाया वल्कि अपनी सम्पूर्णप्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणों में लुटा भी दिया। इसी कारण संगीतज्ञ कवियो के पद गेयता के लिए जितने लोकप्रिय हुए उतने ही उनमें निहित भक्ति के लिए भी। गोपाल नायक और वैजूबावरा के पदो में आत्म-निवेदन, गोपीप्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षो का बड़ा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक की वहुत कम रचनायें प्राप्त हुई हैं। अपने एक पद में वे रास का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

कांधे कामरी गो अलाप के नाचे जमुना तीर नाचे जमुना तीर
पीछे रे पाँव रे लेति नाचि लोई मागवा।
भुअ आली मृदंग बाँसुरी वजावै गोपाल बैन बतरस ले अनंद
ले मुराद मालवा।

(राग कल्पद्रुम से)

वैजू की कवितायें कृष्ण-लीला के प्राय सभी पक्षों को दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं। नटवर का रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान, मनुहार आदि सभी पक्षो पर लिखी गई इन कविताओ में कवित्व शक्ति का वहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पड़ता है। विरह के वर्णन में वैजू ने उद्दीपनो तथा अन्य कवि परिपाटी विहित उपकरणों का प्रयोग नही किया है, वडी सहज और निरंलकृत भाषा में उन्होंने प्रिय-वियोग की वेदना को व्यक्त किया है—

प्यारे विनु भर आए दोउ नैन
जवते स्याम गवन कीयो गोकुल तव तें नाही परत री चैन
लगे न भूख न प्यास न निद्रा मुख आवत नहिं वैन
वैजू प्रभु कोई आन मिलावै वाकी वलिहारी दिवस रैन

इस प्रकार हमने देखा कि कृष्णभक्ति का साहित्य कई स्रोतों से विकसित होता हुआ हिन्दी वैष्णव कवियो को प्राप्त हुआ। विद्यापति तथा अन्य वैष्णव कवियो के भक्ति साहित्य का अध्ययन करने तथा उसके तत्वों की सही व्याख्या करने के इच्छुक लोगों को इस पृष्ठभूमि का परीक्षण करना चाहिए। सगुण और निर्गुण का इतना वड़ा विभेद जैसा कि आजकल माना जाता है, हमें इन कवियो के काव्य का सही मूल्याकन करने में वाधा पहुँचायेगा। विद्यापति के काव्य के विपय मे प्राय यह शंकाये की जाती है कि यह रहस्यवादी भक्ति काव्य है, या केवल शृंगारप्रधान प्रेमकाव्य। भक्ति और शृंगार के विषय में भी हमारे मन मे कुछ धारणाएँ वद्धमूल हो गई हैं। वहुत से लोग विद्यापति आदि के नखशिख वर्णनों को देखकर इतने घवरा जाते है कि उन्हें इन कवियो की भक्ति भावना पर ही

अविश्वास होने लगता है। प्रत्येक महाकवि अपनी परम्परा का परिणाम होता है। यह सच है कि जीवंत कवि पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर नई भावधारा की सृष्टि करता है और पुराने प्रथा-प्रथित वर्णनो की शृखला का विच्छेद करके नये उपमान-मुहावरे, प्रतीको का निर्माण करता है किन्तु कोई अपनी परम्परा से एकदम विच्छिन्न कभी हो ही नहीं सकता। विद्यापति के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन काव्य की मर्यादाओ को, नियमावलियों को तथा कविजनोचित उस परम्परा को समझना होगा जो उन्हे विरासत के रूप मे मिली थी।

निर्गुण काव्य का संबंध जैन मर्मी कवियो से या सिद्धोसे जोड़ा जाता है। इस प्रकार निर्गुण मतवादी प्राचीनता प्रमाणित करने का तो साधन प्राप्त हो जाता है किन्तु जब हम सगुण काव्य को निर्गुण का एक दम विरोधी मान लेते है तो इसका आरंभ १६वी शताब्दी मे मानाना अनिवार्य हो जाता है। यह स्थिति कितनी काल्पनिक है, इसे हमने ऊपर देखा है। यदि अपभ्रंश मे प्राप्त होने वाली रचनाओ का सही विवेचन किया जाये तो सगुण काव्य को १०वी शताब्दी से ही आरंभित मानना पडेगा। अप-भ्रश साहित्य की भक्तिपरक रचनाओं की मुख्य विशेषतायें ये है—

(१) राधाकृष्णसम्बन्धी पदो में भक्ति और शृंगार का समन्वय।

(२) स्तुतिपरक रचनाओ का बाहुल्य, इनमें कृष्ण और शिव की स्तुति समवेत रूप में की गई है।

(३) शृंगार का रूप बहुत मुखर है।

(४) निर्गुण मतवाद की सृष्टि करनेवाली रचनाओं में भी आत्मनिवेदन, शरण-प्रणति तथा भक्त के अनन्य प्रेम की सूचना देनेवाली प्रवृत्तियाँ मिलती है।

(५) गोपाल नायक और बैजू बावरा जैसे संगीतज्ञ कवियो के काव्य में संगीत, प्रेम और भक्ति का समन्वय है जैसा विद्यापति के काव्य में दिखाई पड़ता है।

शृङ्गार और भक्ति

भक्ति और शृंगार दोनो ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यन्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ है। भक्त कवियो के शृंगारिक वर्णनो को लेकर आलोचको ने बहुत निर्मम आक्षेप किये है। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचक ने भी सूर के बारे मे विचार देते हुए उनके शृगारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होंने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नही रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृगारमयी लोकोत्तर छंटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यजना से उन्होने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषयवासना पूर्ण जीवो पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर इन्होने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तो ने अपनी गूढातिगूढ चरम भक्ति का विषय बनाया उसको लेकर आगे के कवियो ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्ल जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती है। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृगार की अति वर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नही मानते, दूसरी यह कि रीतिकाल के कामोद्दीपन चित्रणो की अतिशयता का कारण भक्त कवियो के शृंगारिक चित्रणो को ही मानते है। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचको ने भी व्यक्त किये है। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणो का अभाव है? क्या भक्त कवियो ने शृगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनो की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नही थी? ऐसे प्रश्नो के उत्तर के

लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्ण विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। शृंगार की मर्यादा क्या थी और उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया। जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भावधारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि 'हरि-स्मरण' में मन सरस हो और यदि विलास कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो :

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्

मधुर-कोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्

(गीतगोविन्दम् श्लोक ३)

वह कौन सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात प्रसिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम-कला और हरि-स्मरण उनकी पदावली में एकत्र सुलभ हैं। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभि-व्यक्ति है। इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रंथों में जो भक्ति के नियामक तत्वों का विश्लेषण करते हैं, शृंगार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद् रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है—

सता प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवति हृत्कर्णरसायनाः कथा.

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति

(भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्त्री पूजा और उसका वैष्णवरूप शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।'[१] उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास

१. सूरसाहित्य, संशोधित संस्करण १९५६, बम्बई, पृ० २०-३०।

सम्प्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२९।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्ववेद (९।५।२७।२८) में उसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'कांचन परिहरेत्' मन्त्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार लिखा है—जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है कि किसी स्त्री को मत छोड़ो। अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।"[1] कथावस्तु जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृष्ठ १५५) से भी सिद्ध होता है कि बुद्ध काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[2]

बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान सम्प्रदाय का बड़ा जोर था उसके प्रभाव से 'पंचमकारसेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुर सुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरंतर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तन्त्रवाद में रति और शृंगार की भावना को एक नया स्वरूप और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्तिस्वरूपा बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं।[3] चैतन्य देव ने परकीया-प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। कामशास्त्र का भक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा, इस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। विद्यापति, सूरदास तथा अन्य ब्रजकवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृंगार के वर्णनों की व्यावहारिक

१. वही, पृ० २३, २४।

२. दि कलकत्ता रिव्यू, जून १९२७ पृ० ३६२-३ तथा मनीन्द्रमोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट, पृ० १०१।

३. उज्ज्वल नीलमणि, कृष्णवल्लभा-५।

प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथो से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन व्रजभाषा के काव्य का पड़ा इसमे सन्देह नही। प्राचीन व्रज का मतलव यहाँ प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से है।

ऐतिहासिक शृंगारिक रचनाओ का आरम्भ छठवी-सातवी शताव्दी के संस्कृत वाड्मय मे दिखाई पड़ता है। ऐसा नही कि इस प्रकार की रचनाये पहले के साहित्य में प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य मे भी इस प्रकार की रचनाओ का सकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी शक्तियों का आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो का प्रभाव उग्र रूप में वर्तमान है। संस्कृत काव्य देवताओ के स्तुति गान की वैदिक परम्परा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमे पौराणिकता और नैतिक रूढिवादिता की सर्वदा प्रधानता वनी रही। विद्वानो की धारणा है कि लौकिक शृंगारपरक काव्यो का आरम्भ प्राकृत काल से हुआ, खासतौर से चौथी-पाँचवी शताव्दी मे विभिन्न जातियो के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियो की संस्कृति के संपर्क के कारण। हूणो और आभीरो के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके सम्पर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमांस की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन सस्कृति मे निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमांस लिखने की परिपाटी जिसका परम विकास वाणभट्ट में दिखाई पडता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नही कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनाये तो इस मध्यकालीन संस्कृत रोमास की पद्धति से भी भिन्न है क्योंकि इनमें आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नही दिखाई पड़ता। हाल की गाथा-सतसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर सकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिको की रसमयी क्रीड़ाये, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रथ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियो की प्रेमगाथाएँ, ग्राम-वधूटियो की शृंगार-

चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधो को सीचती हुई सुन्दरियो के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओ का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी है कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् मे प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नही है। कुश और वेदिका का नाम नही सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नही की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नही दी जाती।' द्विवेदी जी ने बडे सूक्ष्म ढँग से मध्यकालीन शृंगार की इस नयी धारा और प्राचीन सस्कृत काव्यो की चेतना का अन्तर स्पष्ट किया है। हाल की गाथासप्तसती को विद्वानो ने लोक-साहित्य की परम्परा का प्रभाव बताया है। वह लोक-साहित्य-परम्परा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु उस लोक-साहित्य-परम्परा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योकि वह अपभ्रंश में सुरक्षित है।

हाल की गाथा-सतसई में ही शृंगार के दोनों पक्षों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियो ने विद्यापति, सूरदास आदि ने उन अनूठी उक्तियों को बिल्कुल अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणो को देखने से इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौटकर आता नही। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण 'प्रिय आज ही गया है, आज ही गया है' ऐसा कहकर जो रेखा खीच देती है उनसे दीवार भर गई किन्तु वह आया नही—

अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति अज्जं गओति गण्डीए
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाँहि चितलियो (३।८)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खीचते-खीचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी है किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नही लते—

कत दिन माधव रहब मथुरापुर कवे घुचब विहि वाम
दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल विछुरल गोकुल नाम

प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन ब्रजभाषा के काव्य का पड़ा इसमें सन्देह नही। प्राचीन ब्रज का मतलब यहाँ प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से है।

ऐतिहासिक श्रृंगारिक रचनाओं का आरम्भ छठवी-सातवीं शताब्दी के सस्कृत वाङमय में दिखाई पड़ता है। ऐसा नही कि इस प्रकार की रचनायें पहले के साहित्य मे प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य मे भी इस प्रकार की रचनाओ का संकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन मे दैवी शक्तियों का आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो का प्रभाव उग्र रूप में वर्तमान है। सस्कृत काव्य देवताओ के स्तुति गान की वैदिक परम्परा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमे पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता वनी रही। विद्वानों की धारणा है कि लौकिक श्रृंगारपरक काव्यो का आरम्भ प्राकृत काल से हुआ, खासतौर से चौथी-पाँचवी शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की सस्कृति के संपर्क के कारण। हूणों और आभीरों के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भापा इनके सम्पर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमास की प्रवृत्ति ने इस भापा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन संस्कृति में निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमास लिखने की परिपाटी जिसका परम विकास वाणभट्ट मे दिखाई पड़ता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नही कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनाये तो इस मध्यकालीन संस्कृत रोमास की पद्धति से भी भिन्न है क्योंकि इनमे आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नही दिखाई पड़ता। हाल की गाथा-सतसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीडायें, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ मे अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियो की प्रेमगाथाएँ, ग्राम-वधूटियों की श्रृगार-

चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधो को सींचती हुई सुन्दरियो के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओ का भावोत्तेजन आदि वाते इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी है कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् मे प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नही है। कुश और वेदिका का नाम नही सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नही की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नही दी जाती।' द्विवेदी जी ने वडे सूक्ष्म ढँग से मध्यकालीन शृंगार की इस नयी धारा और प्राचीन सस्कृत काव्यो की चेतना का अन्तर स्पष्ट किया है। हाल की गाथासप्तसती को विद्वानो ने लोक-साहित्य की परम्परा का प्रभाव वताया है। वह लोक-साहित्य-परम्परा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु उस लोक-साहित्य-परम्परा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योकि वह अपभ्रंश में सुरक्षित है।

हाल की गाथा-सतसई में ही शृंगार के दोनों पक्षो का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियो ने विद्यापति, सूरदास आदि ने उन अनूठी उक्तियो को बिल्कुल अपना वना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणो को देखने से इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौटकर आता नही। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण 'प्रिय आज ही गया है, आज ही गया है' ऐसा कहकर जो रेखा खीच देती है उनसे दीवार भर गई किन्तु वह आया नही—

अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति अज्ज गओति गण्डीए
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चितलियो (३।८)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खीचते-खीचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी है किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नही लते—

कत दिन मावव रहव मथुरापुर कवे घुचव विहि वाम
दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल; विछुरल गोकुल नाम

विद्यापति का इसी भाव का एक दूसरा पद देखिये.—

कालिक अवधि करिअ पिय गेल
लिखइते कालि भीति भरि गेल
भले प्रभात कहत सबही
कह कह सजनि कालि कवही

हेमचंद संकलित दोहों मे भी एक मे यही भाव व्यक्त किया गया है:—

जो मइ दिण्णा दिअहडा दइए पवसेत्तंण
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण

गाथासप्तसती की एक दूसरी गाथा में नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है कि तुम्हारे आने पर सभी प्रकार के मंगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयनोत्पल से मैंने पथ प्रकीर्ण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापत कर दिया है—

रत्थापइण्णणा अणुप्पला तुमं सा पड़िच्छये एन्तम
दारणि हियेंहि दोंहि वि मंगलकलसेंहिव थणेंहि (२।४०)

सूर की गोपी कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की कमल-कुटी में आसन ठीक करती है और मंगल-कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोडकर स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं—

करत मोहि कछवै न वनी
हरि आये चितवंत ही रही सखि जैसे चित्रधनी
अति आनन्द हरष आसन उस कमल कुटी अपनी
हृदय उमंगि कुच कलस प्रकट भये टूटी तरकि तनी
(सूरसागर १८८०)

विद्यापति की राधा कहती है कि हे प्रियतम तुम्हारे आने पर मैं अपनी देह के प्रत्येक अग से मांगलिक आयोजन का साज करूँगी। दोनो कुचो को कनक-कुभ की तरह स्थापित करूँगी और आँखो में काजल लगाकर उन्हे अपशकुन निवारणार्थ रखे हुए काजल-चित्रित दर्पण की तरह रखूगी—

पिया जब आओब मझु गेहे
मंगल जतनु करब निज देहे
कनअ कुंभ करि कुच युग राखी
दरपन धरब काजर देइ आँखि

प्रिय से मिलने को उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहले इतनी प्रेमविह्वल हो गई है कि वह निमीलता-सी अपने घर में ही कहलकदमी कर रही है—

अज्ज भए गन्तव्य घण अन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिअच्छी पअ परिवाडि घरे कुरइ (३।४९)

सूर की राधा की भी तो अभिसार की उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है—

आप उठी आँगन गई फ़िरि घर ही आई,
कबधौं मिलिहौ स्याम कौ पल रह्यो न जाई
फिरि फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवेली लागि
सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागी
(सूरसागर १९६६)

संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश में लिखे हुए दोहों में मुजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और साकेतिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। आरंभिक व्रजभाषा में लिखे ये दोहे शृंगार काव्य के 'मुक्ताहल' हैं। इनमें सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एकत्र पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है—

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयु न झूरि
जो सक्कर सय खण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौवां खण्ड भी क्या मिठास में कम होता है? मुंज अपनी प्रौढा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित दोहो मे प्रेम और शृंगार की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। विरह की निगूढ वेदना को व्यक्त

करनेवाले एक-एक दोहे मे परवर्ती ब्रजभाषा के विरहवर्णनों का पूरा इतिहास भरा पड़ा है। प्रिय-विश्लेष-दु.ख से पीड़ित नायिका पी-पी पुकारनेवाले चातक से कहती है—रे नीरीह चातक क्यों व्यर्थ 'पिउ-पिउ' पुकार रहा है? इतना रोने से क्या होगा? तेरी जल से और मेरी बल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी—

वप्पीहा पिंउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहुं वि न पूरिअ आस

पपीहे के बार-बार पुकारने पर वेदना-विजड़ित चित्त से वह निराशा को स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है: चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूंद भी नही मिलती—

वप्पीहा कइं वोल्लिएण निग्घिण वारहिं बार
सायर भरिअइ विमल जल लहइ न एकइ धार

सूर की गोपियो के विरह-वर्णन को जिन्होने पढा है वे जानते हैं कि पपीहा के प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियो ने नाना प्रकार के करुणापूर्ण भावोच्छ्वास के साथ सुनाये है—

(१) सखी री चातक मोहि जियावत
जैसे हि रैनि रटत हो पिव-पिव तैसेहि वह पुनि गावत (३३३४)

(२) अजहु पिय पिय रजनि सुरति करि झूठो ही मुख मागत वारि।
(३३५)

(३) सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तउ न उर की बिथा विचारत।
(३३३८)

मिलन या संयोग शृगार में जड़ता या अचेतन की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रंश दोहे में एक नायिका कहती है कि अग से अग न मिले, अधरो से अधर न मिले, मैने तो प्रिय के मुख-कमल को देखते ही रात बिता दी—

अंगहि अंग न मिलिउ हलि अहरे अहर न पत्तु
पिउ जोअन्तिहे मुह कमल एम्बइ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओ में भरा पडा है—

कमल नैन मुख बिनु अवलोकै रहत न एक घरी
तब तै अंग अंग छवि निरखत सो चित्त ते न टरी।
(सूर० ६३८६)

इन दोहों में कुछ तो सच्चे श्रृंगार और प्रेम के दोहे है, कुछ श्रृंगारिक उक्तियो और उत्तेजन भाव के भी है जिनका अतिवादी विकास बाद मे विहारी आदि रीतिकालीन कवियो के काव्य में दिखाई पडता है। इनमे श्रृंगार का गम्भीर रूप नही दिखाई पडता, ऊहात्मक अथवा अत्यन्त सस्ती कोटि की कामुक और श्रृंगारिक चेष्टाओ की विवृत्ति दिखाई पडती है। रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के श्रृंगार की प्रेरणा भी यही से मिली, इसे भक्तिकाल के श्रृगार का ही विकास नही कहना चाहिए, वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियो ने श्रृंगार का कही-कही बड़ा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नही है, ऐसे चित्रणो ने ही रीतिकालीन कविता को श्रृगार की अश्लील कोटि तक पहुँचाने में मदद की। इसके लिए कुछ अंशों में सूर, विद्यापति आदि के रति और संभोग के श्रृंगारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते है। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियो की घोर श्रृंगारिक चेष्टाओं वाले काव्य की भी प्रेरणा प्राचीन ब्रज के इन दोहो में वर्तमान थी—

विट्टी ए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि

हे पुत्री मैंने तुझसे कहा था कि दृष्टि बाकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय में पैठकर चोट करती है।

तंगु पयोहर उल्लसई सिंगार थपक्का
कुसुम वाण निय अमिय कुंभ किर थापण मुक्का

कहीं कुच प्रिय आगमन के अवसर पर मंगल-कलश बनते हैं कहीं विजय-प्रयाण के अवसर पर। नव यौवन से विहंसती हुई देह वाली, प्रथम प्रेम से उल्लसित रमणी अपने सुकुमार चरणों के अशिंजित पायल की रुनझुन से दिशाओं का चैतन्य करती हुई मुनि के पास पहुँची तो आकाश में कौतिक-प्रिय देवताओं की भीड़ लग गई। वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रत्यन किया किन्तु मुनि का हृदय उस तप्त लोहे की तरह था जो उसकी बात से विंध न सका। जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और संयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कब डिगा सकते हैं:—

मुनिवइ जपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा
मनु कीनउ संयम सिरि सो भोग रमेवा

यह है जैन कवि की अनासक्त रूपासक्ति। वह तिल-तिल जुटाकर सौन्दर्य के जिस ऐन्द्रजालिक माया-रूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने में उसे कभी सकोच नही होता। प्रेम के प्रसगों में ऋतुवर्णन का प्रयोग प्राय. होता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उद्दीपनगत प्रकृतिचित्रण प्रायः प्रथा-प्रथित रूढ़ियो में आक्रान्त होता है। उपकरण प्रायः निश्चित है उन्ही के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्पक और रुचिकर बनाना है कि यह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके। ऐसी अवस्था में प्रायः वस्तुओ की नाम-परिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नही होता यानी वह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रंच मात्र भी नही छू पाता। जिन पद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्पा का वर्णन किया है। यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें सन्देह नही, किन्तु शब्दों का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खड़ा हो जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दो के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणों को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं:—

झिरि झिरि- झिरिमिर झिरिमिर, ए मेहा बरिसंत
खलहल खलहल खलहल ए बादला बहंत
झब झब झब झब झब झब ए विजुलिय झंक्कइ
थरहर थरहर थरहर ए बिरहिणि मणु कंपइ ।६।

महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते
पंच बाण निज कुसुम बाण तिम तिम साजन्ते
जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विहसावइ
तिमि तिमि कामिय चरण लग्गि निज रमणि मनावइ ।७।

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमती के प्रेम का अत्यन्त स्वाभाविक और संवेद्य चित्रण किया गया है। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना से किस सहृदय का मन द्रवीभूत नही हो जाता ? मधुमास के आगमन पर पवन के झकोरो से वृक्षो के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पड़ते है मानों राजल के दुख से वृक्ष भी रो पड़ते हो। चैत में जब नव वनस्पतियाँ अकुरित हो जाती हैं, चारो ओर कोयल की टहकार गूजने लगती है, कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को बेधने लगता है—

फागुण वागुनि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
चैतमास वणसइ पगुरइ, वणि वणि कोयल टहका करइ
पंचवाण करि धनुष धरेइ, वेझइ माडी राजल देइ
जुइ सखि मातेउ मास वसन्त, इणि खिल्लिजइ जइ हुइ कंत

किन्तु माधवी क्रीड़ा के लिए लालायित राजल का पति नही आता। ज्येष्ठ का उत्तप्त पवन धू-धूकर जलने लगता है, नदियाँ सूख जाती है, चंपालता को पुष्पित देखकर नेह-पगी राजल वेहोश हो जाती है—

जिठ्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, छण वियोग सूखिउ नइ पूर
पिक्खिउ फुल्लिउ चंपइ विल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रो में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियो की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नही होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतंक से कभी भी कृत्रिम नही हो पाते। वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी

आंतरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सचेष्ट है। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में सांस लेती है, किन्तु पंक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड-सत्ता सासारिक वातावरण से अलग नही है। इसीलिए संसार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है। जैन शृंगार-वर्णन के इस विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक काव्यो में जिनका मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, शृंगार कभी उपेक्षित नही रहा, वल्कि इन वर्णनो से तो इसकी अतिशयता का भी पता चलता है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

रीतिकाल की शैली को यदि एकदम संकुचित अर्थ में कहना चाहें तो नखशिख चित्रण और नायिका भेद की शैली कह सकते हैं। परवर्ती संत साहित्य में ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ़ अर्थ में उसे ऐसा न भी मानें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियो में नखशिख वर्णन अथवा मानव रूप-चित्रण ज्यादा अलकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नखशिख वर्णनो की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए, मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेषता वताते हुए कहा है कि 'आकृति चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियो के अलग-अलग चित्रो मे हम भेद कर सकें।'[1] शुक्ल जी ने इसी प्रसंग में रीतिकालीन कवियो की शैली को अत्यन्त निकृष्ट वताते हुए लिखा है कि 'यहाँ हम रूप-चित्रण का कोई प्रयास नही पाते केवल विलक्षण उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ की भरमार पाते हैं। इन उपमानो के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति मे अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नही होता।'[2]

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काशी २००२, पृ० ३९।

२. वही पृ० ३८।

नखशिख-वर्णन विद्यापति या सूर तथा उनके अन्य समसामयिक व्रज-भाषा कवियो में मिलता है। कहीं-कहीं तो इस चित्रण में वस्तुत रूढ़ियों के प्रयोग की इयत्ता हो जाती हैं। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग-' वाले प्रसिद्ध नखशिख-चित्रण को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि 'इस स्वभाव-सिद्ध (तुलसी के) अद्भुत व्यापार के सामने कमल पर कदली कदली पर कुंड, शख पर चन्द्रमा आदि कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागज़ी दृश्य क्या चीज ह ?'[1] हमें यहाँ पर विचार करना है कि विद्यापति, सूरदास आदि की कविताओं में जो इस प्रकार की 'कवि प्रौढ़ोक्ति, रूप-कातिशयोक्ति' की अधिकता दिखाई पडती है, उसका कारण क्या है ? मैंने ऊपर निवेदन किया है कि संस्कृत के परवर्ती काव्यो में भी इस प्रकार के अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। किन्तु नखशिख-वर्णन की इस शैली का विकास—इस अतिशयतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रंश काव्यो तथा आरंभिक व्रजभाषा की रचनाओ में भी दिखाई पड़ता है। थूलि-मद्दफागु में वेश्या के रूप-वर्णन में यद्यपि शैली रूढ़ है इसमें सन्देह नही, किन्तु लेखक ने उसे 'विलक्षणता'-प्रदर्शन के लिए नही अपनाया है। यौवन-सम्पन्न उरोजो की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलो के स्तवक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही कहा जायेगा, किन्तु यह अलकरण रूप-चित्रण मे वाधक नही है, वल्कि उसे और भी अधिक उद्भासित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुष्पदत ने नारी-सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूत पूर्व है। पुष्पदंत के चित्रण शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदण्ड के अनुकूल है, उन्होने न केवल दो नारियों के रूप मे अन्तर को स्पष्ट अकित किया है वल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशो की नारियो के रूप, स्वभाव, तथा व्यवहारो का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया है जैसा पूर्ववर्ती काव्यो मे कम मिलेगा। हिन्दी काव्यधारा के पृष्ठ २०० पर दिये गए पद्यांश में नारी-सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश दोहो में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वांगीणता नही दिखाई

---

१. देखिए शुक्ल जी का 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक निवन्ध।

पड़ती, किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रों के वर्णन देखिए :—

जिवं जिवं वंकिम्र लोग्रणहु निरु सामलि सिक्खेइ

तिवं तिवं कम्महु निग्रय सर खर पत्थर तिक्खेइ

ज्यो-ज्यों गोरी अपनी बाँकी आँखों को भंगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानों कामदेव अपने वाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

नखशिख वर्णन का और अधिक प्राधान्य परवर्ती रचनाओं में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैंगलम् की व्रजभाषा-रचनाओ में ऐसे वर्णन विरल नही है जो किसी काव्य के नखशिख-चित्रण के प्रसंग से छांटे गए है।

रासो काव्यों में वर्णित नखशिख शैली का भी प्रभाव सूर आदि पर कम न पड़ा। 'सन्देश रासक' मे नायिका के रूप का चित्रण रूढ़ शैली का ही है, किन्तु उसमें उपमानों के चयन में कवि की अन्तर्दृष्टि और सूझ का पता चलता है। पथिक से अपने विदेशस्थित पति को सन्देश भेजते समय उसके रूप की क्षण-क्षण परिवर्तित दशा का कवि ने स्थान-स्थान पर बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

छायंती कह कहव सलज्जिवर णिय करही

कणक कलस झंपंती णं इन्दीवरही

तो आसन्न पहुत्त सगग्गिर गिरवयनी

कियउ सद्द सविलासु करुण दीहर नयनी

(संदेश रासक २९)

इस विवरण को थोड़ा विस्तार से देना आवश्यक हो गया था क्योकि लोग प्राय: ऐसा समझते है कि भक्ति काव्यो में शृंगार का कोई स्थान नही। जो लोग भक्ति और शृंगार का इतना बड़ा विभेद लेकर विद्यापति के काव्य का अध्ययन करते है, उन्हें वे घोर शृंगारिक प्रतीत हो सकते हैं, और वे है भी, किन्तु शृंगारिक होने के कारण ही उनकी कविताओ में भक्ति भाव का अभाव नही प्रमाणित होता। दूसरा प्रश्न है नखशिख वर्णन का। नखशिख वर्णन का उपर्युक्त विवेचन क्या इस बात का प्रमाण नही है कि यह परिपाटी मध्यकालीन काव्य की सर्वमान्य और सर्वत्रगृहीत

प्रणाली है। इसके प्रभाव से संस्कृत, प्राकृत, और भाषा का कोई कवि नही बचा। यहाँ तक कि शम और विराग जिन कवियों का उद्देश्य रहा है, वे भी नखशिख सौन्दर्य का वर्णन परम्परा-विहित परिपाटी के अन्दर ही करते थे। जैन कवियों तक ने नखशिख वर्णन को इसी ढंग से अपनाया। विद्यापति के नखशिख वर्णनों पर कामशास्त्र, सामुद्रिक आदि का भी प्रभाव कम न पडा। वैसे सम्पूर्ण नखशिख-वर्णन की पूरी परिपाटी चाहे वह जैन-बौद्ध या हिन्दू किसी भी कवि द्वारा अपनाई गई हो, कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र के नारी लक्षणो से बहुत प्रभावित रही है। विद्यापति ने यदि इस परपरा को अपनाया तो यह कोई अपराध नही है। और न तो इसके आधार पर उन्हें शृंगारिक कह कर टाला ही जा सकता है। नख-शिख वर्णन कदर्थना की वस्तु नही है, बुरी है नखशिख वर्णन की निरुद्देश्य या रूपलोभपूर्ण आसक्ति।

राधा : पार्थिव प्रतिमा पराशक्ति के रूप में

मध्यकालीन साहित्य को यदि किसी एक शब्द मे अभिव्यक्त करना हो तो नि.सकोच भाव से कहा जा सकता है कि वह शब्द है राधा। राधा मध्यकालीन साहित्य को प्रेरणाशक्ति है, अधिष्ठात्री है और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मासल मूर्त्ति है जिसके शरीर के हर अणु मे कच्ची मिट्टी की गंध है और आत्मा के प्रत्येक चेतन-परमाणु में दिव्य-प्रेम की अलौकिक छटा। छठवी शताब्दी से १० वीं तक का सम्पूर्ण भारतीय वाङमय इस अनुपम नारी-रत्न की छायाव्यतिकार-सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित हुआ है।

राधा शब्द का सबसे पहला प्रयोग कब हुआ, यह प्रश्न प्रायः साहित्य के जिज्ञासु अनुसधायकों के चित्त को उद्वेलित करता रहा है। राधा किसी नारी का नाम नही है, यह नारी-जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, तेजोद्दीपता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य, शील और प्रज्ञा के घन-विग्रह का अभिधान है। राधा के भारतीय प्रेम-साधना की परिणति का नाम है। इस साधना का आरम्भ वैदिक साहित्य मे ही दिखाई पडने लगता है जब ऋषि ने प्रकृति को आद्याशक्ति के रूप में अपनी प्रथम श्रद्धाजलि अर्पित की। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में शक्ति के पृथ्वीरूप की जो वन्दना है वह विश्वजननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य की प्रणति का प्रथम उच्छ्वास नही तो क्या है? डा० शशिभूषणदास गुप्त ने श्रीराधा का क्रम विकास स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देवीमूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना स्मरण की जाती है। श्रुतियो में हमें शक्ति का लक्षणीय उल्लेख मिलता है।' केनोपनिषद मे जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल-शक्ति है—वह शक्ति जो अग्नि वायु, इन्द्र

आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओ को यही तत्व दिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहुशोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश में आविभूता हुई।"[1]

उपनिषदों में शक्ति के रूप और सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले बहुत से प्रसंग दिखाई पडते है, जिसमें शक्ति अजा, लोहित शुक्ल कृष्णवर्णा, आत्मानुरूपा, बहुप्रजा, आदि रूपों में अभिनन्दित की गई है।[2] आद्या शक्ति या देवी का सबसे पूर्ण या महिमामण्डित रूप मार्कण्डेय पुराण में दिखाई पडता है। इस चित्रण में सौन्दर्य, शील और शक्ति तीनों का ही चरम उत्कर्ष एकत्र सन्निहित होकर उपस्थित हुआ है। देवी यहाँ न केवल शुभ्र प्रज्ञारूपा और दिव्य हैं बल्कि वह मंगल सौन्दर्य, राजस् गणो से युक्त है। हाव-भाव, तथा अन्य नारी सुलभ प्रक्षोभक अलकरणो से सज्जित भी है। देवी-सौन्दर्य के चित्रण मे कामशास्त्रीय लक्षण देखे जा सकते है, वह परा-शक्ति के रूप में सहस्रों उदीयमान सूर्यो की कान्ति को धारण करनेवाली, लाल रेशमी वस्त्र में आवृत, लाल चन्दन से लिप्त पयोधरो वाली, कमल के समान नेत्रो की कांति को धारण करने वाली है—

ॐ उद्यद्भानसहस्रकान्तिमरुणक्षौमा शिरोमालिका
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटी विद्यामभीतिं वरम्
हस्ताब्जैर्दधती त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियम्
देवी बद्धहिमांशुरत्नमुकुटा वन्देऽरविन्दस्थिताम्

साथ ही मातंगी के रूप में वही देवी श्यामल अंगों पर रक्त वस्त्र और अरुण कंचुकी धारण करने वाली मुकुलित कमल की माला पहने हुई रत्न-पीठ पर बैठी हुई पिंजर बद्ध शुक के मीठे शब्दों को सुनती हुई, वीणा-वादन करती हुई, हाथ के शख पात्र में आसव लिए हुए अलस नेत्रो वाली भी दिखाई पड़ती है—

---

१. श्री राधा का क्रम-वकास, हिन्दी संस्करण, १९५६ ईस्वी, पृ० १०
२. श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४।४

ॐ ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं श्रृण्वती श्यामलांगी
न्यस्तैकाङ्घ्रि सरोजे शशिशकलधरां वल्लकीं वादयन्तीम्
कल्हारावद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्रां
मातंगी शंखपात्रां मधुरमधुमदां चित्रकोद्भासिभालाम्

शक्ति के उपर्युक्त दोनो रूपों को देखने से भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से श्री-शोभा वर्णन के प्रसंग में देवी के रूप के दोनों पक्षो का समवेत चित्रण होता रहा है। मांसल-सौंदर्य और अलस नेत्रो की कान्ति का वर्णन ही नही, देवी को 'शखपात्रा' और 'शुककलपठितंश्रृण्वती' भी कहा गया है। ये अभिप्राय या अलंकरण की रूढ़ियाँ मध्यकालीन काव्य में नायिका के वर्णन में वहुत बार प्रयुक्त हुई है।

डा० दासगुप्त का यह निष्कर्ष उचित है कि 'तंत्र पुराणादि या शैव-दर्शन में जहाँ शक्ति तत्व का विवेचन भलिभाँति प्रारम्भ हुआ है, वहाँ देखते है कि शक्तिवाद ने वैष्णवधर्म और दर्शन में भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में घुसा हुआ यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ।'[1]

श्रीमदभागवत कृष्णचरित्र का कोश-ग्रथ है और साथ ही परवर्ती कृष्णलीला सम्वन्धी कविताओं का उपजीव्य-स्त्रोत; किन्तु राधा कृष्ण-प्रिया के रूप में इस ग्रंथ में भी दिखाई नही पड़ती। गोपियो का वर्णन है, रास के अत्यन्त मादक रूप का वहुत ही सूक्ष्म चित्रण हुआ है, किन्तु कृष्ण की अनन्य प्रिया के रूप में यहाँ कही भी राधा दिखाई नहीं पड़ती। भागवत में रास क्रीडा के प्रसग में एक स्थान पर यह वर्णन अवश्य आता है कि कृष्ण अपनी प्रियतमा गोपी को लेकर गायव हो गए, तदनन्तर उनके वियोग मे व्याकुलिता गोपियो ने उस सौभाग्यवती गोपी को लक्ष्य करके किंचित ईर्प्यावश कहा था:—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः
(१०।२०।२४)

---

१. राधा का क्रम-वकास, पृष्ठ १३

अर्थात् इसी ने भगवान् हरि की सही आराधना की है। क्योंकि हमें छोड़कर गोविन्द इसी के प्रेम में पगे हुए हैं। 'अनयाराधित.' शब्द को लेकर विद्वानों ने राधा नाम के संधान का प्रयास किया और बताया कि 'आराधना' से ही राधा-नाम का आविर्भाव हुआ। परवर्ती पुराणों मे राधा का नाम अवश्य आता है। पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में राधा के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूप-गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'उज्ज्वल नीलमणि' मे राधा प्रकरण के अन्तर्गत यह वतलाया है कि गोपालोत्तरतापनी में राधा गांधर्वी नाम से प्रसिद्ध हैं तथा ऋक्परिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित है।'

गोपालोत्तरतापन्या यद् गान्धर्वीति विश्रुता
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता

राधाविषयक अन्य प्राचीन उल्लेखो का सन्धान करते हुए डा० शशिभूषण-दास गुप्त ने दक्षिण के वैष्णव भक्त आलवारो के भजनो में आने वाली नायिका 'नाप्पिन्नाइ' पर भी विचार किया है। नाप्पिन्नाइ एक फूल का नाम है। नाप्पिन्नाइ को कृष्ण की प्रियतमा और लक्ष्मी का अवतार बताया गया है। 'नाप्पिन्नाइ राधा की तरह ही गजगामिनी है, गौरी है, सौन्दर्य की प्रतिमा है। नाप्पिन्नाइ ही गोपियो में प्रधान और कृष्ण की प्रियतमा है। इस पौराणिक कल्पना को इन्होंने (आलवारो ने) स्थानीय उपाख्यानो में मिलाकर थोडा बहुत बदल दिया।'[1] आलवार भक्तो के तिथिकाल के विषय में काफी विवाद है, फिर भी इतना तो माना ही जाता है कि इनका आविर्भाव पाचवी शताब्दी से नवी के बीच में हुआ था।[2] इस दृष्टि से नाप्पिन्नाइ के रूप में कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का विवरण और वह भी राधा से मिलता जुलता, काफी महत्व का है; इसमें सन्देह नही।

गाथा-सप्तसती मध्यकाल की स्वच्छन्द प्रेमविषयक कविताओं का रत्न-कोश है। कहते है एक बार सरस्वती की कृपा से राजा हाल के

---

१. श्रीराधा का क्रम-विकास, पृ० ११६।
२. गोविन्दाचार्य कृत—डिवाइन विजिडम अव् द्रविड सेन्ट्स।

सभी नागरिक एक दिन के लिए कवि हो गए और इन अनगिनत लोगों के कंठ से अजस्र धारा की तरह कविता फूट पड़ी। इनमे से सर्वोत्तम चुनकर राजा हाल ने गाथा-सप्तसती का निर्माण किया। कादम्बरीकार वाणभट्ट ने इस जनश्रुति की ओर संकेत किया है। गाथा-सप्तसती में बहुत से ऐसे पद हैं जिनमें शृंगार, रति, तथा प्रकृति (खास तौर से उद्दीपन के रूप में) के मनोरम चित्र भरे पड़े हैं। मैंने पीछे इस प्रकार के कुछ पद्यो के तुलनात्मक प्रसंग और उसका सूर और विद्यापति के पदो पर प्रभाव दिखाया है। इनमें से कुछ पद्य कृष्ण और राधा के प्रेम-विषयक भी प्रतीत होते हैं। एक गाथा मे तो राधा शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी हुआ है। कोई गोपवाल कहता है कि हे कृष्ण तुम अपने मुख-मारुत से राधा के मुह पर लगे हुए गोरज का अपनयन करके इन वल्लभियों के तथा अन्यो के गौरव का अपहरण कर रहे हो :—

मुहमारुहेण तं कण्ह गोरअं राहिआएं अवणेन्तो
एताणं वलवीणं अण्णाणं वि गौरअं हरसि

यहाँ 'गौरअं' मे यमक के आधार पर अच्छा चमत्कार भी प्रस्तुत हो जाता है। गोरअं का एक अर्थ गोरज और दूसरा गौरव है।

प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में आने वाले रावासम्बन्धी अन्य प्रसंगों पर पीछे विचार किया जा चुका है। पुष्पदन्त के उत्तरपुराण का रास प्रसंग, प्राकृतपैंगलम् की नौका लीला का दोहा, हेम प्राकृत-व्याकरण के राधा-सम्बन्धी दोहो पर हम पीछे लिख चुके है (दे० भक्ति काव्य की सास्कृतिक पृष्ठ भूमि)

राधा के विषय में भट्टनारायण के वेणीसहार, त्रिविक्रम भट्ट के नलचम्पू, माघकृत शिशुपाल वध, सोमदेव के यशस्तिलक चंम्पू तथा कतिपय अन्य काव्य ग्रंथो मे प्रसगोनुकूल चर्चायें दिखाई पड़ती है। राधाकृष्ण प्रेम का सर्वाधिक मृदुल और मादक वर्णन जयदेव न अपने गीतगोविन्द मे प्रस्तुत किया। जयदेव के गीतगोविन्द में पहली वार एक सामान्य मानवी अपने सम्पूर्ण मासल पार्थिव शरीर-सौन्दर्य-सभार के साथ भगवान्

की प्रियतमा के रूप में दैवी शक्ति का आधार-स्थल बनकर आई। जयदेव ने 'हरिस्मरण' और 'कामकला-कुतूहल' को एकत्र समन्वित कर दिया। ऐसा नही कि जयदेव के पहले इस प्रकार का प्रयत्न नही हुआ था। भक्ति काव्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि के पुनर्परीक्षण के सिलसिले मे मैंने बार-बार निवेदन किया है कि भक्त कवियों को काव्य की जो परम्परा मिली उसमे भक्ति और रति का ऐसा पार्थक्य नही था। प्राकृत और अपभ्रश के आमुष्मिकता-परक प्रेम काव्य जो जन-चित्त को पूर्णत. अभिभूत किये हुए थे, भक्त कवियो के लिए भी माध्यम थे उन्होंने उसी प्रेम काव्य के माध्यम को अपनाया। जड़ोन्मुख प्रेम को चिदोन्मुख बनाने के सकल्प के साथ ही उनका यह कर्त्तव्य था कि ये मासल सासारिक प्रेम को एक दिव्यता प्रदान करे। जयदेव ने यह कार्य सम्पन्न किया। वैसे उनके काव्य मे भौतिक प्रेम का स्वर ही ज्यादा मुखर दिखाई पड़ता है।

जयदेव की राधा सासारिक मानवी की तरह ही प्रेम-विह्वला, मानिनी, प्रेमिका, केलि और रति-सुख की विदग्धा तथा अपने प्रियतम के गले मे कंठहार की तरह निरन्तर आलिगन में सुख मानने वाली बालिका है। कन्दर्प-ज्वर से पीड़ित क्षणिक विरह मे भी जल-विहिन मीन की तरह तड़फडाने वाली राधिका सखी के मुख से कृष्ण और अन्य गोपियो की रतिक्रीडाओ का वर्णन सुनकर ईर्ष्या से कातर हो उठती है। सखी इस सताप मे और वृद्धि करती हुई जब प्रकृति के उस रूप की चर्चा करती है जो अपने वासंती उद्दाम सौन्दर्य से युवतियों के हृदय को पीडा से मथ देता है, तो एक क्षण के लिए राधा का चित्त चंचल हो उठता है। वह लाल किशुक फूलों को जो युवक-युवतियो के हृदय को विदीर्ण करने वाले कामदेव के रक्त लिप्त नख की तरह दिखाई पड़ते है तथा नागकेसर के श्वेतपटल को जो मदन महीपति के कनक-दंड की छवि धारण किये हुए है, देखती रह जाती है :—

मृदमदसौरभरभस वशंवदनवदलमालतमाले
युवजनहृदय-विदारण-मनसिजनखरुचि-किशुकजाले

मदनमहीपति कनकदंड-रुचि केसर-कुसुम-विकासे
मिलित-शिलीमुख-पाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे

वह अभिसार-पराभव के इस दुःख को संभाल नहीं पाती और उलटे पैरों वापिस लौट जाती है, किन्तु कृष्ण की भुवनमोहिनी छवि को वह कैसे भुला दे ? वह अपने प्रेम-कातर मन से कृष्ण के चन्द्राकार मयूरपक्ष, चंचल नेत्र, कपोलो पर आन्दोलित कर्णावतंस तथा इन्द्रधनु-अनुरंजित सान्द्र मेघ के सदृश उस रूप को कैसे अलग कर दे ? वह बार-बार अपने हृदय को समझाती है। क्या हुआ यदि कृष्ण वहु वल्लभ हैं ? क्या हुआ यदि वे हमारे प्रेम की चिन्ता नही करते ? 'यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण ही उसका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है। इसी कातरता की आंच में तप कर वह सोना निखर पड़ा।'[1] राधा के इस विरह दुःख का हाल गोपी कृष्ण को सुनाती है। वह साफ कहती है कि माधव आपकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर भी वह आपको कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विचार करती है—जैसे आप उसकी आँखों के सामने खड़े हों। वह आपके ध्यान में लय हो चुकी है। वह तो आपके चरणो में पडी हुई यह सोचती है कि आपके बिना सुधावर्षी चन्द्र भी उसके शरीर में दाह उत्पन्न करता है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्
विलपति हसति विषीदति रोदिति चंचति मोचति तापम्
प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम्
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्

जयदेव कवि न राधा की इस विरह-व्यथा का अत्यन्त व्यापक चित्रण किया है। इस चित्रण में प्रायः प्रकृति के सभी सौन्दर्योत्पादक तथा मनोरम दृश्य उद्दीपन की तरह प्रस्तुत किये गए हैं। राधा एक सामान्य मानवी की तरह अपनी सभोगेच्छा के वेग को रोक नही पाती—और पूर्व-सम्मिलन के क्षणो को सोच-सोचकर आँसू गारती रहती है। उसकी यह सहज

---

१. मध्यकालीन धर्मसाधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १५१।

मानव-धर्मिता ही उसके चित्त की पीड़ा को गाढ रूप में प्रकट कर सकी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जयदेव की विलासिनी राधा और कितव कृष्ण की विलास-कला वस्तुत. आधी भी नही रहेगी यदि राधिका को एकान्त प्रेम-निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान् की प्राप्ति के लिए जयदेव की राधा इतनी व्याकुल है कि वे सभी कारण जो सासारिक रमणियो की विरक्ति के साधन है, उन्हें (राधा को) प्रेम के मार्ग से विचलित नही कर सकते। क्षण भर के विलम्ब में भी जो चित्त उत्कंठार्ति के बोझ से फट पड़ता है उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिए कहते हैं कि इस मृणालतन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप में न रखकर अच्छा ही किया-अच्छा ही किया।'

राधा की यह मूर्ति जो वेदकाल के पृथ्वीरूप से प्रस्फुटित होकर नाना पुराणो के देवी रूप, लक्ष्मी श्री रूप तथा तंत्रों में वर्णित देवी रूपो से पुष्ट होती हुई मध्यकालीन प्रेमप्रधान काव्यो मे प्राणप्रतिष्ठा प्राप्त करके जयदेव के काव्य की राधा के रूप में उपस्थित हुई—विद्यापति को इसी प्रकार प्राप्त हुई जैसे किसी परिवार के व्यक्ति को पूर्वजो की सम्पत्ति अपनी सम्पूर्ण गरिमा, अन्धविश्वास, गन्दगी, शुभ्रता के समवेत गुण-दोषों के साथ प्राप्त होती है। विद्यापति ने राधा की इस प्रतिमा को अपने तरह से देखा, सोचा, समझा और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना और शक्ति के संयोग से इसे अभिनव रूप प्रदान किया।

विद्यापति की राधा

विद्यापति की राधा के रूप, चरित्र और शील में कुछ ऐसा है जो केवल विद्यापति ही प्रस्तुत कर सकते थे। राधा उनके सम्पूर्ण मानस-सौन्दर्य का घन-विग्रह है, इस मूर्ति के निर्माण मे कवि ने अपना सारा निजत्व, हृदय का सम्पूर्ण भाव-संभार अर्पित कर दिया है।

वालिका के रूप में राधा के चित का प्रस्फुटन कवि के लिए आकर्षण की वस्तु नही। विद्यापति की राधिका के जीवन का प्रथम क्षण उस समय

आरम्भ हुआ जब कृष्ण ने एक ऐसी अपरूप बालिका देखी जो यौवन के आकस्मिक आगमन पर कुतूहलचकित होकर अपने अंगों का उभार देखते हुए विचित्र प्रकार के आनन्द में विभोर हो जाती है—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल
निरजन उरज हेरइ कत बेरि
हँसइ जे अपन पयोधर हेरि

यौवन की बालसुलभ अल्हड़ चेष्टायें ठिठक कर रह गई, हँसने, चलने बोलने और साधारण व्यवहार में भी भिन्नता आ गई—

प्रकट हास अब गोपित भेल
बरण प्रकट फिर उन्हके नेन्न
चरन चपल गति लोचन पाव
लोचन के धीरज पद तले जाव
नव कवि सेखर कि कहित पार
भिन भिन राज भिन्न बेवहार

यौवन का यह प्रथम चरण-निक्षेप बाला के चित्त को एक विचित्र भावभंगी से भर देता है। क्षण क्षण पर नेत्र चक्षु-कोरक का अनुसरण करते हैं। क्षण-क्षण पर असंयत वस्त्र धूल में लोटकर शरीर को धूलि-धूसरित कर देते हैं। क्षण-क्षण उसके मधुर हास से दांतों की धवल पंक्तियाँ चमक उठती हैं। क्षण-क्षण लज्जा के कारण वह होठों पर वस्त्र रख लेती है। क्षण-क्षण चौंककर धीरे-धीरे चलने लगती है। हृदय के मुकुल को देखकर उनपर लज्जा से वस्त्र डालती है, कभी वस्त्र डालना भूल जाती है। उसके शरीर में शैशव और यौवन दोनों एकत्र मिल गए है, कौन कम है कौन अधिक, यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है—

खने खने नयन कोन अनुसरई
खने खने वसन धूलि तनु भरई

खने खने दसन छटा छुट हास
खने खने अधर आगे गहु वास
चउंकि चले खने खने चले मन्दु
मन्मथ पाठ पहिल अनुबन्ध
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर
खने आचर देइ खने होए भोर
बाला सैसव तारुन भेट
लखए न पारिय जेठ कनेठ

इन्ही दिनो जब राधा अपने यौवन के दुरतिक्रम बोझ को सँभालने में असमर्थ ब्रज की खोरियो मे घूम रही थी, कि अचानक कृष्ण पर दृष्टि पड गई। राधा और कृष्ण का यह प्रथम मिलन कवि की अनुपम निधि है। दो तरुण हृदयो के इस मिलन पर दोनो के हृदय के मन्थन, कुतूहल, रूपासक्ति और प्रेम-विह्वलता का विद्यापति ने अत्यन्त विशद चित्रण किया है।

राधा के रूप को कृष्ण विजड़ित-चित्त से देखते रह गए, किन्तु एक क्षण का यह मिलन पीड़ा का नया संसार दे गया। मेघमाला की सान्द्र नीलिमा में जैसे तड़ित-लता एक क्षण के लिए झिलमिला कर छिप जाए, राधा के रूप की वह झलक हृदयों को बर्छी की तरह चीरती चली गई। वे उसे अच्छी तरह देख भी न सके—

सजनी भल कए पेखल न भेलि
मेघमाल सयँ तड़ित लता जनि
हिरदय सेल दई गेलि

चंचल पवन के झकोरे से वस्त्र गिर गया। अचानक राधा की सुचिक्कण देह-यष्टि दिखाई पड़ गई। केशपाश से घिरी हुई वह देह-यष्टि लगा जैसे नये श्याम जलधर के नीचे बिजली की रेखा चल रही है। धनि के इस गमन को देखकर मेरा चित्त प्रेम-रंग मे डूब गया—लगा कि जैसे सोने की लता निरवलम्ब भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रही है—

ससन परसु खसु अम्बर रे
देखल धनि देह

नव जलधर तर संचर रे
जनि विजुरि रेह
आज देखलि धनि जाइति रे
मोहि उपजल रंग
कनक लता जनि संचर रे
महि निर अवलम्ब

राधा रूप की पराकाष्ठा है। उसका सब कुछ मधुर है। मधुर रस की अधिष्ठात्री देवी की तरह भक्तों के चित्त को उद्वेलित करने वाली राधा की यह मूर्ति कृष्ण के चित्त को प्रेम-वैचित्य के नाना भावों से मथ देती है। राधा ने कृष्ण को सामने खडा देख सिर झुकाकर मुँह फेर लिया। उनके मन में यह सौन्दर्य-मूर्ति ऐसी अड़ गई है कि—

मन मोर चंचल लोचन विकल भेल
ओनहि अनइत जाई
आड़ वदन कए मधुर हास दए
सुन्दरि रहु सिर नाई

ऐन्द्रजालिक के कुसुम शायक की तरह मायाविनि की वह छवि भुलाये नहीं भूलती उसके चरणो का जावक मेरे मन को पावक की तरह दग्ध कर रहा है—

गेलि कामिनि गजहु गामिनि, विहसि पलटि निहारि
इन्द्रजालक कुसुम सायक, कुहुकि भेल वर नारि
पुनहि दरसन जीव जुडाएव, टूटत विहरक ओर
चरन जावक हृदय पावक, दहत सब अंग मोर

कृष्ण की अनुपम छवि को देखकर राधा भी कुछ कम आकृष्ट न हुई। उसे तो सब कुछ जैसे स्वप्नवत मालूम हो रहा था। वह अपनी सखि से जब कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करने लगी तो उसे विश्वास भी नही हुआ कि ऐसा रूप कही संभव भी हो सकता है—

ए सखि पेखलि एक अपरूप
सुनइति मानव सपन सरूप

उस अपूर्व सौन्दर्य को एक निमिष तक ही तो वह देख सकी थी। किन्तु वह एक क्षण का दर्शन-सुख उसके मन-मृग के मर्म को क्रूर व्याध के विषम शर की तरह वेध गया। कदम्ब वृक्षों से आच्छादित यमुना के तट पर घनमाला की तरह सुन्दर उस रूप को देखने के लिए वह व्याकुल हो उठी। किन्तु लाज के मारे पूरा देख भी न सकी, उलट-उलट कर देखते समय वह गिर पड़ी, उसके पैर काँटो से लहू-लुहान हो गए—

कि लगि कौतुक देखलो सखि निमिष लोचन आध
मोर मन मृग मरम वेघल विषम बान वेआध
तीर तरंगिनि कदम्व कानन निकट जमुना घाट
उलटि हेरइत उलट परलौं चरन चीरल काँट

अपनी प्रेमदशा की इतनी सरल और मासूमियतभरी व्यंजना शायद ही कोई कर पाये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की बालिका राधा की सहज स्वाभाविकता और भोलेपन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'वास्तव म सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उसके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नही है और विद्यापति की किशोरी राधिका की भाँति हास में रुदन और रुदन में हास की चातुरी भी नही है।'[१] किन्तु ऊपर के पद से विद्यापति की राधा के सरल चित्त के जिस भाव की व्यंजना होती है, उसमें पीड़ा की स्वीकृति और अपनी विडम्वना की विवृति ही ज्यादा है कुछ चातुरी नही। वह अपनी अल्हड़ता में भी उस क्षणिक मिलन के वाद कितनी व्याकुल और गम्भीर है। उलट-उलट कर पीछे देखते समय उसके पैर काँटो से छिल गए इस भाव को विना संकोच के वह व्यक्त कर देती है। रही चातुरी सो तो सूरदास की राधा में भी कम नही है, बल्कि सखियो को वार-वार धोखा देकर कृष्ण को सम्पूर्ण अपना बना लेने की चालवाजियाँ वहाँ कही ज्यादा मात्रा में दिखाई देती है। कृष्ण मिलन के अवसर पर हार गिर जाने पर अपनी माँ से जितनी चातुरी-पूर्ण वातें सूर की राधा ने की, उतनी औरो को आती भी

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १६४।

नहीं होगी। और फिर ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो सूरदास की राधा विद्यापति की राधा से कहीं अधिक विदग्ध होनी चाहिए।

प्रथम मिलन का यह अनुराग क्षणिक विरह की अवस्था को भी संभाल नही पाता। राधा एक ओर भारतीय गृहस्थ कन्या की तरह पारिवारिक मर्यादा की सीमाओं में अपने को बाँधती है, दूसरी ओर मुरली की मादक संकेत-सूचक ध्वनि उसके चित्त को व्याकुल कर देती है। इस विचित्र दुःख का कहीं अन्त नही, वशी के उच्छ्वास विष की तरह प्राणों को अचेत बना देते हैं। आँखें चाहकर भी कृष्ण को नही देखतीं, कही और देखना पड़ता है। वह घर में भी धीरे पैरों से चलती है, बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती है कि उसकी लज्जा की रक्षा करे—

कि कहब हे सखि इह दुख ओर
बासि निसास गरल तनु भोर
विपुल पुलक परिपूरए देह
नयन न हेरि हेरए जनु केह
लहु लहु चरण चलिए गृह माझ
आज दइव विहि राखल लाज

रूप वर्णन से उत्पन्न यह आकर्षण निरन्तर सहवास सुख के लिए बेचैन करने लगा। प्रिय के पास रहने, उसकी बातें सुनने तथा उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखने की आकाक्षा अछोर रूप लेने लगी। राधा पारिवारिक मर्यादा की चहारदीवारी के भीतर अपनी बेबसी पर आठ-आठ आँसू बहाती। छल से भी कृष्ण को एक बार और देखने की साध से वह चचल हो उठी। क्षणिक विरह की इस अपार पीडा में वह मदन को सबोधित करके कहती है कि रास्ते में आते-जाते ऐसा कौन नही है जो कृष्ण को नही देखता पर हमारा एक बार का देखना ही इतना बड़ा अपराध हो गया कि तू अपने कठोर पंचबाण से हमें निरन्त घायल कर रहा है—

पुर बाहर पथ करत गतागत
के नहि हेरत कान

तोहर कुसुम सर कतहुं न संचर
हमर हृदय पँच बान

और तब शुरू होता है दोनों तरफ से दूतियों का आगमन। दूती कामशास्त्र मे कन्या-विश्रंभण व्यापार में सहायता देने वाली बताई गई है। जयदेव या विद्यापति दोनों ने ही दूती को इसी रूप म ग्रहण किया है। ग्रियसन या कुमारस्वामी जैसे लोग दूती को गुरु या उपदेशक के रूप में मानते हैं। क्योकि उनकी दृष्टि से दूती दोनो प्रेमियो को जो ईश्वर और आत्मा के रूप में हैं, मिलाने के लिए सचेष्ट है। किन्तु दूती का प्रतीक वहुत स्पष्ट नही है। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि रहस्यवादी साधना का प्रभाव विद्यापति पर नही था।

दूतियाँ राधा और कृष्ण दोनों की वैचित्यावस्था का दारुण वर्णन एक दूसरे को सुनाती है। एक तरफ राधा के अभाव में कृष्ण कालिन्दी के किनारे धूल में गिरे पड़े हैं। भुजंगिनि के दंश से पीडित अचेत कृष्ण तब तक होश मे नहीं आ सकते जब तक दूसरे दंश की लहर उस विप को दूर नही कर देती। विरह-पीड़ा को नागिन के दंश की तरह वताना काफी महत्वपूर्ण है। परवर्ती काल मे भक्त के मन में उठने वाली विरह-पीर की तुलना कई स्थानो पर नागिनि-दंश से की गई है–

जव धरि चकित विलोकि विपिन तह
पलटि आओल मुख मोरि
तव धरि मदनमोहन तरु कानन
लुटइ धीरज पुनि छोरि
फुनु फिरि सोइ नयन जदि हेरबि
पाओव चेतन नाह
भुजगिनि दसि पुनहि जदि दंसए
तवहि समय विस जाह

दूसरी तरफ राधा कृष्ण की याद करके रात-दिन रोती रहती है। वह रात-दिन जगकर कृष्ण का ही नाम जपा करती है। अर्ध रात्रि के समय

विगलति-लज्जा राधा रोने लगती है। सखियाँ ज्यों त्यों उसे प्रबोधित करती हैं विरह का ताप उतना ही असीम होकर हृदय को पीड़ित करता है—

निस दिन जागि जपय तुअ नाम
थर थर कांपि पड़ए सोइ ठाम
जामिनि आध अधिक जब होइ
विगलित लाज उठए तब रोइ
सखि जन जत परबोधय जाय
तापिनि ताप ततहिं तत ताय

स्वप्न में भी राधा कृष्ण को नहीं भूलती। प्रीति के अथाह जोर से उसका चित्त जर्जर हो गया। सखियों के बीच अपने पाण्डुर कमल मुख को हाथों में छिपाकर बैठती है। नयन से अविरल अश्रु प्रवाह जारी है, उसका अन्त ही नहीं आता। वह कुहू-शशि की तरह क्षीण हो गई है—

माधव कि कहब से विपरीत
जनु भेल जरजर भामिनि अन्तर
चिर बाढ़ल तसु प्रीत
निरस कमल मुख कर अवलम्बइ
सखि माझ बइसइ गोइ
नयन क नीर थीर नहिं बांधइ
पंक कमल मंहि रोइ
मरम क बोल वयन नहिं बोलइ
तनु भेल कुहु ससि-खीना
अवनि उपर वनि उठए न पारइ
थएल भुजा धरि दीना

राधा-कृष्ण का प्रेम महाभाव की दशा की प्राप्त होने के लिए सचेष्ट है। महाभाव उस दशा का नाम है जिसमें प्रेम दृढ होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव के रूप में प्रकट होता है, जैसे इक्षु-बीज बोने के बाद क्रम से रस, खांड़, गुड़, चीनी, सिता (मिश्री) और सितापला में बदलता

है। उसी तरह रति से प्रेम, प्रेम से राग राग, से अनुराग आदि की उत्पत्ति होकर महाभाव उत्पन्न होता है—

प्रेम क्रमे वाड़ि हय स्नेह मान प्रणय
राग अनुराग भाव महाभाव हय
जैछे वीज इक्षुरस गुड़खण्डसार
सर्करा सिता किछरि शुद्ध मिसरि आर
इहा तैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाड़े स्वाद
रति प्रेमादि तैछे बाड़ए आस्वाद
(चैतन्य चरितामृत)

प्रेम जब अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे 'चिद्दीपदीपन' अवस्था कहते हैं अर्थात् यह प्रेमविषयोपलब्धि का प्रकाशक होता है। स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा अभिनव माधुर्य की सृष्टि करता है और स्वयं अदाक्षिण्य धारण करता है तब उसे मान कहते हैं। मान अगर विश्रंभण या भ्रम-राहित्य को प्राप्त होता है तो उसे प्रणय कहते है। प्रणयोत्कर्ष के कारण अधिक दुःख भी सुखवत् मालूम हो तो उसे राग कहते हैं। जो राग नित्य नूतन मालूम हो उसे अनुराग की संज्ञा मिलती है। अनुराग अगर 'यावदाश्रयवृत्ति' होकर स्व-संवेद्य दशा को प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे भाव कहते है।[1]

---

१. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेम! चिद्दीपदीपनः
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ॥
स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यमान यन्नवम् ।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥
मानो दधानो विस्रंभं प्रणय प्रोच्यते बुधैः ॥
दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते ।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥
सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम् ।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते ॥
अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेत्तिं भाव इत्यभिधीयते ॥
(उज्ज्वल नीलमणि)

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'उज्ज्वल नीलमणि-किरण' में लिखा है कि जहाँ कृष्ण से प्राप्त सुख मे क्षण भर के लिए भी असहिष्णुतादि होती है वही रूढ़ महाभाव है। करोड़ ब्रह्माण्डगत समस्त सुख भी जिसके सुख का लेशमात्र भी नही होता, सारे बिच्छुओ-सर्पों के दंशन भी जिस दुःख के लेश मात्र का अनुभव नही करा सकते, कृष्ण के मिलन-विरह का यह सुख और दु.ख जिस दशा मे प्राप्त होता है उस दशा को ही 'अधिरूढ महाभाव' कहते है।

राधा का प्रेम इसी अधिरूढ महाभाव की दशा को प्राप्त था। वह कृष्ण के वियोग मे तड़फड़ा कर गिर पडती थी और घटो मुख नीचे किये आँसू गारा करती थी। वह लम्बी साँसे लेती, पृथ्वी पर लोटती, उसकी दशा को कोई समझ नही पाता।

लोटइ धरनि धरनि धर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ
खने खने मुरछइ कँठ परान
इथि परकी गति दैव से जान
हे हरि पेखलौ से वर नारि
न जीवइ बिनु कर परस तोहारि

और तब इस विरह के बाद स्नेह प्रणय का रूप ग्रहण करता है। वर्षों की साधना फलवती हुई। दुख के बाद सुख के दिन आए। राधा कृष्ण के मिलन की रात में गोपियों ने गाया—

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना
चहु दिसि सखी सब कर धर ना
जाइतहु लागु परम डर ना
जइसे ससि कांप राहु डर ना
जाइतहि हार टुटिए गेल ना
भूखन बसन मलिन भेल ना

रोए रोए काज़र दहाए देल ना
अदकंहि सिंदूर मेटाए देल ना
भनइ विद्यापति गोश्रोल ना
दुख सहि सहि सुख पाश्रोल ना

राधा को प्रिय-मिलन का यह सुख आकस्मिक रूप से प्राप्त नही हुआ। उसे इसके लिए अपना सब कुछ लुटा देना पड़ा। उसने निरन्तर अश्रु-प्रवाह से अपनी आँखो का काजर धो डाला, नाना प्रकार के दु.खो को सहन करने के बाद यह सुख प्राप्त हुआ। राधा का प्रेम विद्यापति के ही शब्दो में वह कुन्दन है जो दु सह आँच में तप तपकर निरन्तर चमकीला होता गया। इसीलिए इस कष्टप्राप्य मिलन के समय उसके हृदय का उल्लास भय-मिश्रित आशंका से पूरित है। कवि ने इस उल्लास को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रकार के शब्द, छन्द, और भाषा का प्रयोग किया है, वह पूर्णत. उपयुक्त और सार्थक है। प्रथम मिलन के अवसर पर राधा के चित्त में उठने वाले भय को कवि ने वैसा ही वर्णन किया है जैसा कामशास्त्र में प्रथम मिलन के अवसर पर नवोढ़ा के चित्त में उठनेवाली आशंकाओ का वर्णन किया गया है। किन्तु विद्यापति का वर्णन उक्त परिपाटी का अन्धानुकरण नही करता। उनके वर्णन में अपनी एक अलग मौलिकता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। प्रिय समागम के अवसर पर राधा कृष्ण के स्पर्श से कमलपत्र पर सस्थुलित जल-बूँद की तरह कांप उठी, विद्यापति कहते है कि अग्नि जलाती है; पर अग्नि की आवश्यकता किसे नही होती —

जइसे डगमग नलिनि क नीर
तइसे डगमग धनि क सरीर
भन विद्यापति सुनु कविराज
आग जारि पुनु आगि क काज

निचली पक्ति अपभ्रंश के एक दोहे से बहुत साम्य रखती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के एक अपभ्रश दोहे में यही भाव व्यक्त किया

गया है। प्रेमिका अपनी सखी से कहती है कि यद्यपि प्रिय अप्रियकारक है तो भी उसे आज मेरे पास ले आ, आग से घर जलता है, तो भी उस आग का काम रहता है—

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि तं आणहिं अज्जु
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु

विद्यापति इस मिलन की विविध अवस्थाओं का सविस्तार वर्णन करने लगते है। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि ऐसे अवसरों पर उनका कवि कामशास्त्री का वाना भी धारण कर लेता है, वे काम का पाठ सिखाना शुरू कर देते है। किन्तु ऐसे प्रसंगो को ही उनका कृतित्व मानकर इन्ही के आधार पर उनकी सम्पूर्ण साधना पर निर्णय दे देना जल्दीबाजी होगी।

प्रथम मिलन के अनुभावों का विशद वर्णन भी प्राचीन परिपाटी से ही चलता है। किन्तु एक बात अवश्य महत्त्व की है। वह यह कि कृष्ण-मिलन के अनुभवो को सखियों के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर राधा जिस शालीनता और शिष्टता से उन्हें उत्तर देती है, वह प्रशंसनीय है। विद्यापति की तथाकथित विदग्ध राधा कही भी मुखर नहीं प्रतीत होती और न तो बार-बार एक बात ही पूछे जाने पर स्वाभिमानिनी की तरह उनका तिरस्कार ही करती है। इतना ही नही कृष्ण-समागम के अनुभव के विषय में उसका उत्तर इतना मासूमियत भरा और मर्यादासंकुल है कि वह उसके व्यक्तित्व के विपय में सहज आकर्षण और मृदुता उत्पन्न करता है। वह अपनी सखी से स्वभाव-सहज मार्दव के साथ कहती है कि मैं वह अनुभव तुझसे क्या कहूँ, उन्होने हँसकर जब मेरा आलिंगन किया तो मुझे लगा कि अब मेरे हृदय में प्रेम का पौधा जो अंकुरित था आज फूलो से लद गया है। उन्होने ज्योंही नीवी-बंध हटाया, तुम्हारी कसम, मुझे कुछ नही मालूम कि फिर क्या हुआ।

हँसि हँसि पहु आलिंगन देल
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल
जब निबि वन्ध खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान

इसी भाव का एक प्रसिद्ध सस्कृत श्लोक काव्यप्रकाश मे संकलित है। कोई सौभाग्यवती नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखि तू धन्य है जो प्रिय के संगम के अवसर की विश्वासयुक्त सैकड़ो मीठी बातें सुनाती है पर मै तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि प्रिय जब अपने हाथों से मेरी नीवी का स्पर्श करता है तो मुझे कुछ नही मालूम कि फिर क्या होता है—

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु
नीवी प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि

(चतुर्थ उल्लास, श्लोक ६१)

मै यह नही कहता कि विद्यापति ने रति के तमाम वर्णनो में इस शालीनता का निर्वाह ही किया है। उनके ऐसे वर्णनो में कई स्थल ऐसे भी है जहाँ स्थूलता आगई है। रति प्रसंगो के वहुत भद्दे वर्णन भी दिखाई पड़ते है; किन्तु विद्यापति के वर्णनों में कुरुचि उत्पन्न करने वाले प्रसग कम से कम मिलेंगे, वैसे हनुमान-चालीसा का पाठ करने वालों के लिए यदि हर श्रृंगारिक वर्णन ही अश्लील लगे तो इसकी दवा भी क्या है?

मिलन से एक ओर निरन्तर सहवास की उद्दाम लालसा जाग्रत होती है दूसरी ओर प्रिय को अपना बना लेने की इच्छा-पूर्ति के कारण एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास और प्रिय के प्रति अगाध प्रणय की भावना का उदय भी होता है। ऐसी परिस्थितियो में सखियों के कौतुक एक खास प्रकार के रस का संचार करते है। सखियाँ बार-बार इस परिवर्तन का कारण जानना चाहती है, वह पूछती है कि तुमने कृष्ण को अपने वश मे कैसे कर लिया? विद्यापति की राधा वहुत साफ शब्दों में अन्तरंग सखियों से अपनी काम-कला-विदग्धता का वखान करती है। वह कृष्ण को गमार और अनभिज्ञ वताती है। कहती है—

जे किछु कभु नहि कला रस जान
नीर खीर दुहु करए समान

तन्हि सों कहाँ पिरीत रसाल
वानर कंठ कि मोतिय माल
भनइ विद्यापति इह रस जान
वानर मुँह कि सोभए पान

ऐसे मौकों पर विद्यापति का कामशास्त्री बहुत प्रबुद्ध नजर आता है और वे सारी दुनिया को काम-कला-रसायन बाँटने के लिए आतुर दिखाई पडते हैं। ऐसे ढंग से बातें करते हैं गोया उनके जैसा काम-कला पारखी कोई दूसरा मिलेगा नहीं। इसी से कभी-कभी बहुत हल्के ढक की बातें भी करते हैं। छेड़खानी, कौतुक, वाग्वैदग्ध सम्बन्धी कविताएँ इसी मनोवृत्ति की सूचक हैं। जैसे:—

अम्बर बदन अपावह गोरी
राज सुनइ छिअ चाँद क चोरी

अथवा :

बड़ कौसलि तुअ राधे
किनल कन्हाई लोचन आधे

प्रथम समागम के अनन्तर उत्पन्न विश्रंभण ने राधा के चित्त में अभिसार और छद्म-मिलन की प्रेरणा जगाई, विद्यापति को कौतुक का नया रास्ता मिला, उन्होंने अभिसार के प्रसंगों में अपनी चतुराई लुटाकर रख दी। अभिसार के प्रसंग में विद्यापति ने रूढियों की शरण अवश्य ली, किन्तु उनके माध्यम से उन्होंने चमत्कार उत्पन्न करने का ही प्रयत्न नहीं किया। अलंकार प्रयोग किया अवश्य किन्तु उसका उद्देश्य महत्वपूर्ण रहा। उन्होंने रास्तों की बाधाओं और कष्टों का वर्णन करके प्रेम को परीक्षित किया, उसके शुद्ध होने का प्रमाण उपस्थित किया। उदाहरण के लिए निचले पद में अलंकरण की प्रधानता दिखाई पडती है; किन्तु जरा गहराई से देखने पर मालूम होगा कि कवि का उद्देश्य अलंकरण नहीं; कुछ और ही है—

माधव धनि आएल कत भाँति
प्रेम हेम परखाओल कसौटी

भादव कुहु तिथि राति
गगन गरज घन ताहि न गन मन
कुलिस न कर मुख बंका
तिमिर अंजन जल धार धोए जनि
ते उपजावलि सका
भाग भुजग सिर कर अभिनय कर
झांपल फनि मनि दीप
जानि सकल घन जे द७ चुम्बन
ते तुअ मिलन समीप
नारि रतन धनि नागर व्रजमनि
रस गुन पहिरल हार
गोविंद चरन मन कहं कविरंजन
सफल भेल अभिसार

गीतगोविन्द की राधा भी 'जलधरकल्प अनल्प तिमिर' को कृष्ण समझकर बार-बार आलिंगन करती है और चुम्बन देती है—

श्लिष्यति चुम्बति जलधर कल्पम्
हरिरुपगत इति तिमिरमनल्पम्

अभिसार, प्रेम-कौतुक और प्रणय के नाना व्यापारो का यह वातावरण विद्यापति के सजीव वर्णनों से निरन्तर उल्लासपूर्ण और विकासशील दिखाई पड़ता है। मान का वैष्णव साहित्य में बड़ा महत्त्व बताया गया है। मान का दो उद्देश्य रहता है। पहला तो यह कि मान के माध्यम से प्रेमी या भक्त के मन की अनन्यता का पता चलता है। प्रेमिका यह कभी सहन नही कर सकती कि उसका प्रिय किसी और की ओर उन्मुख है। इस धारणा से उसके प्रेम की एकाग्रता का पता चलता है, दूसरी ओर यह मान भक्त या प्रेमी के हृदय के संकोच या स्वाभाविक क्षुद्रता का भी परिचायक है। मान के समय में नाना प्रकार के कटु-तिक्त अनुभवो को प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमी के हृदय में विशालता या उदारता का भाव

जगता है। वह सोचता है कि उसका प्रिय सैंकड़ों लोगों के प्रेम का आलम्बन वन सकता है, उससे जितना प्राप्त होता है, वही वहुत है, इस प्रकार की भावना के कारण एक ओर जहाँ प्रेमी के चित्त का परिष्कार होता है, वहीं दूसरी ओर वह प्रेम के वास्तविक अर्थ को—अपार्थिव स्वरूप को समझने में भी समर्थ होता है। विद्यापति ने मान की विविध परिस्थितियों का वड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कृष्ण को नाना प्रकार की नायिकाओं से रमण करने वाला वताया गया है। उनके इस चंचल स्वभाव पर व्यंग्य करती हुई राधा कहती है—

लोचन अरुन वुझल वड़ भेद
रयनि उजागर गरुअ निवेद
ततहि जाहु हरि न करह लाथ
रयन्हि गमाओल जन्हिके साथ
कुच कुंकुम माखल हिय तोर
जनि अनुराग राँग करु गोर

लाल नेत्रों ने आपके मन का सारा रहस्य खोलकर रख दिया है। रात्रि-जागरण का यह भेद छिपा नहीं रहा। वहीं जाइये जिसके साथ रात विताई है। पर-नारी के कुचों पर लगा अंगराग तुम्हारे हृदय को अनुराग से उज्ज्वल वना रहा है। कृष्ण सफाई देने की कोशिश करते हैं; पर सत्य के वन्धन एक क्षण के लिए उनके अधरो को वाँध लेते है, मगर वे भी कोई नौसिखुआ थे नही, वोले:—

सुन सुन सुन्दरि कर अवधान
विनु अपराव कहसि काहे आन
पुजलौं पसुपति जामिनि जागि
गमन विलम्व भेलि तेहि लागि
लागल मृगमद कुंकुम दाग
उचरइ मंत्र अधर नहिं राग
रजनि उजागर लोचन घोर
ताहि लाग तोहे वोलसि चोर

राधा इतनी भोली तो थी नही कि इस बकवास को सही मान लेती, सो मान वैसे ही चलता रहा, विद्यापति ने कई पद इस मनुहार और मान की स्थिति को संभालने के लिए खर्च कर दिये। तब एक दिन कृष्ण ने इस मान को भंग करने के लिए विचित्र कौतुक किया। मुकुट उतार कर अपने घुँघुराले बालों में सीमन्त बनाया, बालो को गूँथ कर वेणी बना ली। चन्दन की जगह सिन्दूर लगाया, आँखों को काजल से आँज लिया, कुण्डल की जगह कर्णफूल धारण किया, कलाई में सोने की चूड़ियाँ पहन ली, चरणो को जावक से लाल कर लिया, कदम्ब के फूलो को छिपाकर ऊपर से कंचुकी पहन ली, लाल साड़ी पहनकर, औरतो की तरह से पहले बाया पैर रखकर त्रिया-लक्षण का परिचय देते हुए, राधा के पास से वीणा बजाते हुए निकले—

राइ क निकट बजाओलि सुन्दरि
सुनइत भल गेइ साधा
ए नव यौवनि नविन विदेसिनि
आओ पुकारइ राधा
नाम गाम कह कुल अवलम्बन
व्रज आगम किए काजा
सुखमइ नाम मथुरापुर जदुकुल
गुनीजन पीड़इ राजा
धनिकह तुअ गुन रीझि पसन्न भेल
माँगह मानस जोय
मनोरथ कर्म जाँचति जदि सुन्दरि
मान रतन देह मोय

और तब वचनबद्ध राधा उस नवीन विदेसिनी की ओर से चाहकर भी मुँह मोड़ न सकी और प्रिय आलिंगन की अजस्र धारा में मान के पाषाण गल कर बहने लगे। विद्यापति के कृष्ण भी कम मान नही करते, उनके मान की परुषता तो राधा के हृदय को नाना प्रकार की स्मृतियो से दग्ध

कर देती है। वह इतना कातर हो जाती है, कि प्रिय के मान मे अपने को ही दोषी समझती है: वह कहती है कि क्या मैं साँझ का एकाकी तारा हूँ या भादो के चौथ का चन्द्रमा—इन दोनों में किसके समान मेरा मुख हो गया है जिसे कलंकित समझकर प्रभु इधर देखते ही नही—

की हम साँझ क एकसर, तारा
भादव चौथि क ससि
इथि दुहु माझ कवन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हंसि

उपेक्षित हृदय की इस आत्मग्लानि को स्पष्ट करने के लिए विद्यापति ने जो प्रतीक प्रस्तुत किए है वे रूढ़ और प्रचलित नही है इनके पीछे लोक-चित्त के संस्कार छिपे है, इसी कारण ग्लानि की यह व्यंजनापूर्ण प्रेषणीय और अत्यन्त मार्मिक हो सकी है। किन्तु मान मान ही था, वह टूटा और विद्यापति ने अपना कामकला का अवशिष्ट उपदेश बड़े अवसर पर सुनाना शुरू कर दिया। रति की विभिन्न अवस्था में कामशास्त्र के बताये हुए कामोत्पादक उपचार, नखक्षत, दन्तक्षत, तथा जाने कितनी मुद्राय विद्यापति ने सचित्र प्रस्तुत कर दी। उल्लास का यह वातावरण, मासल सौदर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय व्यापार, दैहिक स्पर्श सुख के तरलायित प्रसंग, एक-एक अंग के स्थूल और विवृत विवरण केवल इन्द्रिय-लिप्सा के परिचायक हो जाते, यदि इनके अन्त में विरहोत्पन्न आकस्मिक विश्लेष दु.ख की इतनी बड़ी अतीन्द्रिय पीड़ा को जगाने में समर्थ न होता। विद्यापति का प्रवुद्ध पाठक उनके इन स्थूल रति व्यापारों को कभी क्षमा न कर पाता यदि वे साध्य बनकर आते, किन्तु यह अवस्था प्रेम के एक पक्ष का परिचय देती है, उसकी पूर्णता का नही, इस मिलन-सुख के अन्तराल में विरह का इतनी तीव्र व्यथा सोई है, इसे देखते हुए पाठक इन प्रसंगो की अतिवादिता को क्षम्य मान लेता है।

विरह के चित्रण में विद्यापति वेजोड है। उनका विरह उपहासास्पद नही हुआ है। सूर की तरह विरह की उसासो का आधिक्य भी नही है।

इसका मूल कारण है विद्यापति द्वारा मिलन सुख की स्थूल विवृति ॥ यह आश्चर्य की बात नही है। मिलन के सुख का वे इतना गाढ़ा चित्रण इसीलिए करते है कि वे विरह की काली रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते है। अर्थात् उनके मिलन-सयोग के चित्रो की सघनता और रग-साजी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने में सहायक हुई है।

कृष्ण क्या गए राधा का सर्वस्व ही चला गया। सपने मे उसने देखा कि उसके हाथ में पारस मणि छूट गई, वह दूसरे के धन से धनवती हुई थी, जिसका धन था उसके पास चला गया। गोकुल जिस चाँद के लिए हमेशा चकोर की भाति देखता था उसी चन्द्रमा की चोरी हो गई—

सूतहु छलहुँ अपने गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाई
कर सौं छुटल परस मनि रे
कोन गेल अपनाई
गोकुल चान चकोरल रे
चोरी गेल चन्दा
विछुड़ि चललि दुहुँ जोड़ी रे
जीव दइ गेल धंदा

विरह की इस अनलंकृत व्यंजना के लिए विद्यापति ने बडे कौशल से लोक-गीतो की धुन का अनुसरण किया है। गीति-काव्य वाले निबध मे मैंने बताया है कि इस प्रकार के इकहरे और अत्यन्त तीव्र भावो की व्यंजना शब्दो के माध्यम से नही हो पाती; इन्हें व्यक्त करने के लिए अत्यन्त सीधे शब्दों और अकृत्रिम प्रतीको का प्रयोग होता है। खास तौर से लोकगीतो की धुन ही इतनी करुणोत्पादक होती है कि वह विरह की सान्द्रता और सघनता को भलीभाँति व्यक्त कर देती है। उदाहरण के लिए नीचे का गीत देखिए :—

लोचन धाए फेनायल
हरि नहिं आयल रे

सिव सिव जिवओ न जाए
आस अरुझायल रे
मन करे उड़ि जाइअ
जहाँ हरि आइअ रे
प्रेम पारसमनि जानि
आनि उर लाइअ रे

अथवा :—

सखि मोर पिया
अवहु न आओल कुलिस हिया।

विरह के वर्णन में विद्यापति ने वारहमासा और पट्-ऋतु वर्णन की पद्धति को भी अपनाया है। षट् ऋतु वर्णन प्रायः संयोग शृंगार में ही प्रयुक्त होता था, विरह-वर्णन में वारहमासा का प्रयोग होता था, किन्तु वाद में इस भेद को मिटा दिया गया और पट्ऋतु वर्णन का प्रयोग विरह में भी होने लगा, हमने अगले अध्याय में 'प्रकृति-परिवेश' के अन्तर्गत इस प्रसंग पर विस्तार से विचार किया है।

विरह-वर्णन में सबसे महत्त्वपूर्ण होते है विविध संचारियो के वर्णन। संचारी भावों के वर्णन में प्रायः कवि लोग उनकी निश्चित संख्या को दृष्टि में रखकर एक ही पद में उनका प्रसंगानुकूल कथन कर देते हैं। ऐसी स्थिति में संचारियों का वर्णन कभी भी मार्मिक और हृदयस्पर्शी नही हो पाता। विद्यापति विप्रलंभ शृंगार के संचारीभावो के वर्णन में दक्ष है—

सखि हे कतहु न देख मधाई
काँप शरीर धीर नहिं मानस
अवधि नियर भेलि आई
मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के गेल सीतल चदा
पिया विसलेस अनल सों लखिये
विपति चिन्हिए भल मंदा

भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
चिंत जनु झंखह आजे
पिय विसलेस कलेस मेटाएत
वालम विलसि समाजे

मैंने अभी निवेदन किया कि विद्यापति के विरह में अतीन्द्रिय पीड़ा ही नही है, यानी ऐसा नही कि उनकी राधा कृष्ण मिलन के आंगिक सुखों को कभी नही सोचती, सोचती है जैसे—

सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज
की सरजिस विनु सूरे
जौवन विनु तन तन विनु जौवन
की जौवन पिय दूरे

इतना होने पर भी, राधा के मन में केवल आंगिक सुख की स्पृहा ही इतने गहन विरह का कारण नही वनती, कुछ और है जो राधा के मन को मथ रहा है —

तेल विन्दु जैसे पानि पसारिअ
ऐसन मोर अनुराग
सिकता जल जैसे छनहिं सूखए
तैसन मोर सुहाग

सारी प्रकृति मे विपत्ति के बाद सुख का आगमन होता है। निष्पत्र वृक्ष नवल पत्तो से सुशोभित हो रहे है लेकिन विरहिणी की आँखों में एक वार जो बरसात आई तो फिर जाने का नाम ही नही लेती—

विपत अतप तरु पाओल रे
पुनु नव नव पात
विरहिन नयन दिहल विहि रे
अविरल वरसात

राधा कुसुमित कानन को देखकर एक क्षण दोनो आँखें वन्द करके खडी रह जाती है, कोकिल की आवाज और भौरों की गुंजार को सुनते

ही दोनों कान वन्द कर लेती है। उसकी अवस्था का क्या कहना। रूढ़ उद्दीपनो के माध्यम से भी विद्यापति ने विरह कृशगात्री का एक सकरुण चित्र उपस्थित किया है :—

चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी
सपनहु हरि नहिं आयल रे
गोकुल गिरिधारी
एकसरि ठाढि कदम तर रे
पथ हेरति मुरारी
हरि विनु हृदय दगध भेल रे
झामर भेल सारी

राधा की इस अपूर्व विरह दशा को विद्यापति भी सँभालने में असमर्थ है। लगता है उन्होंने विरह के आरम्भिक पद मात्र काव्य-रूढ़ि-निर्वाह के लिए लिखे थे; किन्तु तभी उनके हृदय को किसी परिस्थिति ने सहज विरह-पीड़ा से भर दिया और तव विरहिणी राधा के रूप मे जिस विरह-पीडा की धारा वह चली, वह विद्यापति के हाथ से भी छूट गयी। कवि ने लिखा है कि मै राधा का कभी प्रवोधन नही कर सकता, मदन-सर-धारा में वहती हुई यह लड़की हमारे वचाये नही वच सकती:—

माधव कत परवोधव राधा
हा हरि हा हरि कहतहिं वेरि वेरि
अव जिउ करव समाधा
धरनि धरिये धनि जतनहिं वइसंइ
पुनहिं उठए नहि पारा
सहजहिं विरहिनि जग महँ तापिनि
वौरि मदन सर धारा
अरुन नयन नोर तीतल कलेवर
विलुलित दीघल केसा

नन्दिर बाहर करइत संसय
सहचरि गनतहिं सेसा

राधा के विरह में सचमुच विद्यापति ने अपना हृदय निकाल कर ही रख दिया है। यह विरह पीड़ा इतनी अनन्तव्यापिनी और इतनी शुभेच्छा-पूर्ण है कि इसकी बराबरी का कोई और वर्णन कठिनाई से प्राप्त होगा। राधा कृष्ण के लिए अपनी इस अवस्था मे भी हजारों शुभेच्छाएँ भेजती हैं, वे जहाँ भी रहे सुख से रहे, हमारा दुःख तो हमारे कर्मो का फल है। विद्यापति में विरह वर्णन की दूसरी विशेषता के विषय में भी मैं आरंभ मे ही लिख चुका हूँ। यानी आशावादिता। वे इस प्रकार के कष्टो में पडी हुई विरहिणी को सान्त्वना देते वक्त जिस प्रकार उसे प्रिय-मिलन का विश्वास दिलाते हैं, वह एकदम उनकी अपनी चीज है। विरहिणी राधा का दुःख शाश्वत है क्योकि विद्यापति काल्पनिक मिलन के मिथ्योपचार से इस दुःख को हृदय से उतारना नही चाहते। उनके लिए यह दुःख ससार की अमूल्य निधि है, इसे योंही खो देना उन्हें स्वीकार नही। राधा अपने प्रिय की याद करते-करते 'भृंगीगति' को प्राप्त हो गई, वह स्वयं माधव हो गई है। वह अपने ही गुणो पर लुब्ध है, अपने ही विरह में उसने अपना ही शरीर जर्जर कर डाला। राधा के लिए राधा ने सब कुछ न्योछावर कर दिया। विद्यापति कहते है कि जब वह प्रेम की विभोर दशा मे होती है तब तो अपने को कृष्ण समझकर राधा-राधा रटती है, परन्तु जब उसे होश आता है तो फिर कृष्ण-कृष्ण की रट से प्राणो को व्यग्र कर देती है। द्विधा-अग्नि से पीड़ित राधा की यह कचन-मूर्ति विद्यापति के आँसूओ से अभिषिक्त हुई है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावह विसरल
अपने गुन लुवुधाई
माधव अपरुप तोहर सनेह

अपने विरह अपन तन जरजर
जीवइति भेल संदेह
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल छल लोचन पानि
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि
राधा सय जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत
बाढ़त विरहक बाधा
दुहु दिसि दारुन दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान

मैं नही जानता कि किसी दूसरे कवि ने अपनी नायिका को एक साथ इतना मासल, इतनी विदग्ध, इतनी सरल, सुन्दर, नारीत्वपूर्ण, कामिनी, सारे विक्षोभकारी सौन्दर्य-उपकरणों की मूर्ति, इतने स्पष्ट हृदय-वाली दूध की तरह स्वच्छ और स्वस्थ, पृथ्वी की गन्ध की तरह मुग्ध करने वाली, विद्युत् की तरह चंचल, धरती की तरह क्षमाशील, ग्रामीणा की तरह निश्छल, और साथ ही कीर्ति की तरह आकर्षक, शुभ्रा-ज्योति की तरह शान्तिदायिनी, विरह पीड़ित शची की तरह पवित्र, और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा ।

अपरूप के कवि

शिप्ले के साहित्य-कोश में सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक वडी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय मे शास्त्रीय मतो की सकुलता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तो की कब्रों से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्मायें चलती भी है और जबकि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फर्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन जिन्दा है और कौन मुर्दा।'[1] वस्तुतः सौन्दर्य जैसी वस्तु की परिभाषा करना कठिन ही नही असंभव है। लेकिन असंभव को भी संभव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धान्तो का बवन्डर या तर्कों का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणो की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य। इसीलिए हजारो वर्ष पहले प्लेटो ने सौन्दर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है। सौन्दर्य की व्याख्या नहीं हो सकती, उसका विश्लेषण नही किया जा सकता, वह अनुभव की वस्तु है, उसमें रमा जा सकता है।

सौन्दर्य वस्तु का नही व्यक्ति का धर्म है जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने पर यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमे सत्य है। यदि ऐसा न होता तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती, पर ऐसा नही होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौन्दर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नही है यह केवल उस मस्तिष्क में विद्यमान रहता है जो उन वस्तुओ के बारे में सोचता है। इस प्रकार सौन्दर्य मूलत वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ

---

1 Dictionary of world literary terms, Page 36

(Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सके वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौन्दर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते हैं। क्योकि यदि सौन्दर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनन्द की परिभाषा तो और भी कठिन है जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौन्दर्य का दुहरा महत्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरूक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता है। दूसरे इस अनुभूत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु के सौन्दर्य को सही-सही व्यक्त कर सकें। इसी कारण कवि का उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नही है। प्रत्येक वस्तु मे एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच० एच० परखूरष्ट (H. H. Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्व-जनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए कि किसी कवि ने सौन्दर्य का वर्णन कैसा किया है हमें मूलतः दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहला यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है। अर्थात् वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिष्कार है। दूसरे यह कि वह व्यक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य-बोध का परिचय देते हैं।

---

1. The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Any thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits. (Beauty, 1930)

विद्यापति वस्तुतः सौन्दर्य के कवि हैं। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपो में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव-विह्वल और एकोन्मुख कर देता है इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्राय. 'अपरूप' या सौन्दर्य की अतिशयता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नही भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है—

सुधामुखि के विहि निरमल बाला
अपरूव रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव की कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सखि पेखलि एक अपरूप', आदि पक्तियो से आरम्भ होने वाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ व्यंजना की गई है।

इस सौन्दर्य का प्रभाव विश्वव्यापी है। इसके सम्पर्क में आने पर विश्व की सभी वस्तुये सुन्दर हो जाती हैं। जायसी के पदमावत में पद्मावती के सौन्दर्य को लोग पारस-रूप कहते हैं। पद्मावती के दिव्य रूप के स्पर्श से सभी वस्तुएँ अभिनव सौन्दर्य को धारण करती है। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इस पारस रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है[1] कि "पारस रूप वह है जिसके स्पर्श से यह सारा ससार रूप ग्रहण करता है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर :—

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना पृ० २०६।

उद्दीप्त स्तर का चित्रण करे और उसमें दिव्यता (Divinity) लाने का कुछ प्रयत्न भी करे परन्तु अधिकांशतः वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत् के बीच में ही देखना पसन्द करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्र-नाथ आदि जो भी सौन्दर्य प्रेमी कवि हैं, वे सजग रूप से अपनी सौन्दर्य-सृष्टि को पृथ्वी पर ही रखना चाहते हैं अर्थात् उसमें यथासभव यथार्थ का आधार रखते हैं किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु मे किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओं का व्यापक आधार उसके लिए 'किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है, ऐसी दशा में जब वह प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप-जाल मे न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है जैसा कि प्राय रवीन्द्र या अन्य रहस्यवादियो के काव्य में दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रवृत्ति के कवि थे। यह बात दूसरी है कि कालि-दास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमे नही है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ही ढूँढा जा सकता है, जिसमें नवीन उद्भावनाओं पर कम कवि-प्रसिद्धियो और रूढ़ उपमानो पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति ने दोनो प्रकार के चित्रण किए हैं, बहुत से चित्रण उनकी अपनी उद्भावनो से अनुप्राणित है बहुत से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते हैं।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि के रुचि की कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षो को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुतो का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि ये प्रयोग विद्यापति के बिल्कुल मौलिक है, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमे किसी प्रसिद्ध रूढि का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नही है। मध्यकालीन काव्य में मौलिकता ढूँढने का यह तरीका ठीक नही है। क्योकि मौलिकता वस्तुओ के लिये नये उपमानो को ढूढ़ने में नही बल्कि पुराने उपमानो को नये तरीके से कहने में दिखाई

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर समीर
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर

विद्यापति की राधा का अपरूप भी यही पारस रूप है। आश्चर्य तो यह देखकर होता कि जायसी से सौ वर्ष पहले विद्यापति ने जिस पारस रूप का चित्रण किया, उसपर लोगो का ध्यान नही गया। इसे विद्यापति का अभाग्य ही कहे। विद्यापति की राधा वह अपूर्व सौन्दर्य-मणि है जिसकी प्रभा से सभी पदार्थ प्रकाशित होते है—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई, तँहि तँहि सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि विजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास सँचार, तँहि तँहि अभिय विथार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, ततँहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अव तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव, दय योहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि, तव गुने दैवव आनि

एक बार थोड़ी देर के लिए उस गोरी के जिस अपरूप को देखा, उसी से तीनों भुवन भरा मालूम होता है, उसके मधुर हास का एक कण जैसे सारी पृथ्वी पर अमृत विखेर देता है। यह राधा का पारस रूप जिसे विद्यापति ने सम्पूर्ण श्रद्धा और हृदय की पवित्रता से निर्मित किया है, इसमे जो लोग शृंगार का पार्थिव रूप-चित्रण मात्र खोजना चाहें, उन्हे कौन रोक सकता है, किन्तु विद्यापति का यह वर्णन राधा के सौन्दर्य की दिव्यता का प्रकाशक भी है, इसमे सन्देह नही। विद्यापति के द्वारा चित्रित सौन्दर्य की दिव्यता और पवित्रता की वात करके मैं उनकी मासंल सौन्दर्य-सृष्टि का मूल्य घटाना नही चाहता। वस्तुत. सौन्दर्य-लोभी कवि कभी भी रहस्यवादी हो ही नही पाता, उसके मन के कुछ क्षणो में ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जव वह सुन्दर वस्तु के गुण-धर्म पर मुग्ध-होकर उसके

उद्दीप्त स्तर का चित्रण करे और उसमे दिव्यता (Divinity) लाने का कुछ प्रयत्न भी करे परन्तु अधिकांशतः वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत् के बीच में ही देखना पसन्द करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्र-नाथ आदि जो भी सौन्दर्य प्रेमी कवि है, वे सजग रूप से अपनी सौन्दर्य-सृष्टि को पृथ्वी पर ही रखना चाहते है अर्थात् उसमें यथासभव यथार्थ का आधार रखते है किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु मे किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओ का व्यापक आधार उसके लिए 'किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है, ऐसी दशा मे जब वह प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप-जाल मे न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है जैसा कि प्राय रवीन्द्र या अन्य रहस्यवादियो के काव्य में दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रवृत्ति के कवि थे। यह बात दूसरी है कि कालि-दास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमे नही है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ही ढूँढा जा सकता है, जिसमें नवीन उद्भावनाओं पर कम कवि-प्रसिद्धियों और रूढ़ उपमानो पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति ने दोनो प्रकार के चित्रण किए है, बहुत से चित्रण उनकी अपनी उद्भावनो से अनुप्राणित है बहुत से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते है।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि के रुचि की कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षो को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुतो का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि ये प्रयोग विद्यापति के बिल्कुल मौलिक है, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमे किसी प्रसिद्ध रूढि का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नही है। मध्यकालीन काव्य में मौलिकता ढूँढने का यह तरीका ठीक नही है। क्योकि मौलिकता वस्तुओ के लिये नये उपमानो को ढूढ़ने मे नही बल्कि पुराने उपमानो को नये तरीके से कहने में दिखाई

रूढ माने गए है।[1] विद्यापति ने भी शरीर के लिए इन्ही का प्रयोग किया है :—

(१) मेघमाल संय तड़ित लता जनि (पदावली[2], पद २८)

(२) जनि विजुरी रेह (पद २९)

(३) कनक लता अरविन्दा (पद १९)

(४) कनक लता अवलम्बन ऊअल (पद १८)

मुख की उपमा सर्वत्र चन्द्रमा या कमल से दी जाती है। विद्यापति ने भी प्रायः सर्वत्र उन्ही उपमानों का प्रयोग किया है। केशों की उपमा शास्त्रकारो की दृष्टि से अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर-श्रेणी, चामर, यमुना-तरंग, नीलमणि, नीलकमल, आकाश, धूप, धूप का धूआ इत्यादि से दी जानी चाहिए ।[3]

(१) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख ससि डर रोवए अँधारा (पद २३)

(२) केस निगारइत बह जल धारा
चामर गरए जनि मोतिय हारा (पद २५)

(३) चिकुर गरये जल धारा
मेह वरिस जनु मोतिम हारा (पद २४)

(४) अलकहि तीतल तैं अति शोभा
अलिकुल कमल बेढ़ल मधुलोभा (पद २५)

(५) तापर सापिनि झापल मोर (पद ३६)

इसी प्रकार आँखों की उपमा भ्रमर, मृग-नेत्र, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, मेघ, चकोर आदि से दी जाती है। विद्यापति ने आँखो की उपमा प्रायः उपर्युक्त सभी उपमानो से दी है।[4] आँखो की उपमा यमुना-तरंग या केवल तरंगों से भी दी जाती है।[5]

---

१. अलंकार शेखर १३।१

२. पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी—सम्पादित।

३. कवि कल्पलता।

४. अलंकार शेखर १३।६

५. वही १३।१५

(१) कुटिल कटाख लाट पडि गेल
मधुकर डम्बर ग्रम्बर लेल (पद ३०)

(२) लोचन तूल कमल नहि

(३) तापर चलल खजन जोर (पद ३६)

(४) वादल लोचन चोर
पिया मुख रुचि पिवए धाग्रोल
जनि के चाद चकोर (पद ३८)

(५) सावन घन सम झरदु नयान (पद ४०)

(६) नीर निरंजन लोचन राता
सिंदुर मंडित जनु पंकज पाता (पद २५)

स्नान के वाद लाल हुई ग्राँखो की उपमा केवल कमल-पत्र से नही दी। वैसे कमलपत्र भी लाल हो सकता है। किन्तु यहाँ श्वेत कमल-पत्र जो सिन्दूर मडित हो ऐसा कहा। क्योकि ग्राँखें निरन्तर लाल नही रहती। श्वेत ग्राँखें सद्य.स्नान के वाद लाल है। यह लाली सिन्दूर की तरह है। सिन्दूर शव्द का प्रयोग करके नायिका के सौभाग्य ग्रौर सौन्दर्य का भी सकेत दे दिया है।

वराह मिहिर ने वन्धुजीव के समान लाल ग्रौर ग्रमांसल ग्रधर को प्रशस्त वताया है। इन गुणो को ध्यान में रखकर ग्रधरो के लिए प्रवाल, विम्वफल, वधूक पुप्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थो से उपमा देने की प्रथा है।[1]

(१) विमल बिम्व फल जुगल विकास (पद ३६)

(२) ग्रधर बिम्व ग्रधजाई (पद १०)

(३) ग्रधर बिम्व सन दसन दाडिम विजु (पद १२)

ग्रधरो के वारे में विद्यापति बहुत जागरूक नही है। वे तो मुख का वर्णन करने के वाद ग्रधर, चिवुक ग्रौर कंठ की वात छोड़कर कुचो के वारे में वर्णन करने लगते है। कुचो की उपमा देने में तो विद्यापति वेजोड है।

---

१. ग्रलंकार शेखर १३।७

जाने कितनी प्रकार की उपमायें खटाखट उपस्थित होती चली आती हैं। यह उनके नखशिख वर्णन का सबसे आकर्षक और सबसे अधिक निर्बल पक्ष है। इसके वर्णन मे उन्होने जाने कितने गीत लिख डाले। कुचों की उपमा के लिए संस्कृत आलंकारिको ने कुछ रूढ़ उपमान माने है। जैसे पूगफल, कमल, कमल कोरक, बिल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, बीजपूर, समुद्र, छोलंग आदि।[1] वराहमिहिर ने वर्तुलाकृत घन, अविषम, और कठिन उरोजो की प्रशंसा की है।[2]

(१) पीन पयोधर दूबरि गता
मेरु उपजल कनक लता (पद १०)

(२) कुच जुग परसि चिकुर फुनि परसल
ता अरुझायल हारा
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चांद विहुन सब तारा (पद ११)

(३) मेरु उपर दुइ कमल फुलाइल (पद १२)

(४) जुगल सैल सम हिमकर देखल (पद १३)

(५) काम कम्बु भरि कनक संभु परि
ढारत सुरसरि धारा (पद १८)

(६) कुच उग कमल कोरक जल मुदि रहु (पद २०)

(७) कुच युग चारु चकेवा (पद २३)

(८) माजि धएल अनु कनक मुकुर
तेइ उज्जल कुच जोरा
पलटि बैठाओल कनक कटोरा (पद २४)

(९) सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक बेल जनि पड़ु गेल हीमा (पद २५)

(१०) कुच जुग अरविन्द (पद २६)

---

१. वही पृ० ४६।

२. वृहद् संहिता ७०।६

(११) कनक कमल हेरि काहे न लोभि (पद ३०)

(१२) कुच कुम्भे कहि गेल अप्प आस (पद ३०)

(१३) अम्बर विघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झापु सुछन्दा
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुई पकज दस चन्दा (पद ३१)

यही नही विद्यापति कुचो के विकास की संलक्ष्य करके भी अपनी उपमाओ की करामात दिखाते है। ऐसे स्थलो पर रूढ उपमाओ से उन्होने आकार की दृष्टि से विकास-सूचक स्थितियो की कल्पना की है।

पहिल बदर कुच पुन नवरंग
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग
से पुन भये गेल बीजक पोर
अब कुच वाढल सिरफल जोर

वेर, नारगी, वीजपूर तथा श्रीफल से इस क्रमिक विकास की सूचना दी गई है। लहराते हुए श्वेत आचल से अनाच्छादित कुचो के लिए यह उपमा कितनी सुन्दर है। जैसे शरद के श्वेत घन पवन से पराभूत होकर पर्वत को व्यक्त करने के लिए विवश हो जायें—

उरहि अचल झापि चचल
आध पयोधर हेरु
पौन पराभव सरद घन जनि
वेकत कएल सुमेरु

सस्कृत आलंकारिको ने नाभि और कटि के सौन्दर्य के विषय में वताया है कि दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त होती है इसके लिए रसातल, कूप, आवर्त, झील या ह्रद आदि की उपमाये चलती है।[१] नाभि के पास की हल्की श्यामल रोमावलियो का वर्णन की कवि लोग करते है। इसकी मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता को सुन्दर कहा गया है। नाभि के निचले भाग को बलि कहते है, त्रिबली का वर्णन कवि लोग करते हैं

१. अलंकार शेखर १३।१०–११।

इसकी उपमा लता, सोपान, नदी-तरंग, श्रेणी आदि से दी जाती है। कटि के वर्णन मे सूई की नोक, शून्य, अणु, सिंह की कटि, आदि उपमान गृहीत होते हैं। विद्यापति के कुछ प्रमुख प्रयोग नीचे दिये जाते हैं–

(१) कनक कदलि पर सिह समारल (पद १२)

(२) गरु नितम्व भर चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई
भागि जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिवलि लता अरुझाई (पद १३)

(३) नाभि विवर संय लोम लता वलि (पद १४)

(४) केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे
लोचन अम्बुज धारि
विद्यापति कवि गाओल सगनि गे
गुन पाओल अवधारि (पद १६)

जाँघो की उपमा कनक-कदली से वहुत रूढ हो गई है। चरण-तल कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म से उपमित होते है। नाखूनों की उपमा चन्द्रमा से या ललाई की दृष्टि से प्रवाल से दी जाती है। नारी की गति के लिए हंस, हाथी आदि की चाल से उपमा दी जाती है। चरणो के जावक या महावर के वर्णन में उषा की लाली, अग्नि शिखा, पलाश पुष्प आदि की उपमाये दी जाती हैं। विद्यापति ने इन्ही उपमाओ का सहारा लिया है।

(१) पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने (पद १२)

(२) विपरित कनक कदलि तर सोभित
थल-पंकज के रूप दे (पद १३)

(३) हस्ति गमन जका चलइत सजनि गे
देखइति राजकुमारि (पद १६)

(४) चरन जावक हृदय पावक (पद ३२)

(५) तखन मदन सर पूरए रे

गति गंजए गजराज (पद ३२)

(६) जहाँ जहाँ पग धरई

तहिं तहिं सरोरुह भरई (पद २५)

(७) कमल जुगल पर चांद का माला

(पैर और नख ज्योति, पद ३६)

विद्यापति के नखशिख-वर्णन की उपर्युक्त विवेचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्राय: प्रसिद्ध रूढ़ियों या कवि-समयों का प्रयोग किया है। एक बात अवश्य है कि उन्होंने इन रूढ उपमानों का प्रयोग करते वक्त भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियो को अतिमात्रा में प्रयुक्त नही किया है इसीलिए उनके वर्णनों में रीतिकालीन कवियो के ऊहात्मक चित्रण कम से कम मात्रा में दिखाई पड़ते है। दूसरी ओर राधा के सौन्दर्य-चित्रण में उन्होंने निरन्तर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कही-कहीं वर्णन की विवृत्ति भी दिखाई पडती है, किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भौं सिकोड़ने के पहले ख्याल रखना चाहिए कि यह वर्णन चौदहवी शताब्दी के एक कवि ने प्रस्तुत किये है जिस काल में इस प्रकार के चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। बीसवीं शताब्दी की मर्यादा का चश्मा लगाकर इन कवियों की रचनाओं में नैतिकता-अनैतिकता का सवाल उठाना बहुत उचित नही है। सब कुछ होते हुए भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपमाएँ प्राय: अत्यन्त आकर्षक और वर्ण्य वस्तु के सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली होती है। ऊपर के उदाहरणो में यदा-कदा मैंने संकेत दिये है। विद्यापति के इस गुण को संलक्ष्य करके बंगला के प्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेशचन्द्र सेन ने लिखा है कि 'भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्विती व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति न होगी। विद्यापति की राधा सौन्दर्य-समूह की चित्रपटी है। उनके विरह अश्रुओं से सिक्त होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कु नवल मेघ की आभा धारण करता है।"[1]

१. बंग-भाषा ओ साहित्य, पृ० २२४।

प्रकृति-परिवेश

प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। मानव-जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करने वाली, उसे चेतना और प्रेरणा प्रदान करने वाली मायाशक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनद्ध रूप में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्तुलन तथा सहयोग में जीवन की समफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ से वशीभूत होकर जब जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।" भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीति-काव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

विद्यापति के काव्य में भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरूकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत बड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तन एक ही कवि किसी वस्तु को एक क्षण में 'कुछ' देखता है और किसी

दूसरे क्षण में कुछ। प्रकृति का यह निरीक्षण लेखक के सौन्दर्य बोध (Sense of beauty) से निश्चित अनुचालित होता है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसी आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के दो मुख्य उद्देश्य बताये हैं। पहला सौन्दर्य का उपभोग और उससे आनन्द की उपलब्धि, दूसरा सौन्दर्य का निर्माण यानी कला को जन्म देने वाली भावना (Art impulse)। इस प्रकार सौन्दर्य बोध के वास्तविक विश्लेषण का अर्थ है कलाकार की सौन्दर्य-ग्राहिका प्रवृत्ति का विश्लेषण। प्रवृत्ति का पता दो प्रकार से चलता है। खास वस्तुओं में लेखक की दिलचस्पी से और प्रकृति के प्रति या सौन्दर्य के आधार के प्रति उसकी जागरूकता से। दिलचस्पी या किसी खास वस्तु के प्रति लेखक की रुझान की जानकारी उसकी रुचि का पता देती है। प्रत्येक मनुष्य उत्तम से उत्तम सौन्दर्य की वस्तु से केवल उतना ही आनन्द प्राप्त कर सकता है जितना उसकी योग्यता या पात्रता के द्वारा प्राप्त हो सकता है। कवि या कलाकार की श्रेष्ठता इसी बात में निर्भर करती है कि वह सौन्दर्य के किस रूप की, और कितने ऊँचे स्तर के रूप की अभ्यर्थना करता है। यही पर कलाकार के लिए कल्पना और यथार्थ का प्रश्न उपस्थित होता है। विश्व मे उपलब्ध सौन्दर्य हमारी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण हमें खण्डशः ही प्राप्त होता है या जो कुछ प्राप्त होता है वह हमारे सम्पूर्ण आदर्श के सामने खण्डित ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे कवि या लेखक कल्पना के आधार पर इसे पूरा करने का, अपनी रुचि और कलात्मक रुझान के मुताबिक सम्पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। कान्ट ने इसी आधार पर कल्पना को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए कहा कि 'कल्पना एक दूसरी प्रकृति का निर्माण करती है, उन्ही तमाम साधनो से, जो उसे वास्तविक प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। अपनी रुचि और समझ के मुताबिक कवि भावो के नाना रूपो की सहायता और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग के आधार पर एक ऐसी पूर्ण वस्तु का निर्माण करता है जिसके समानान्तर कोई दूसरी वस्तु प्रकृति में उपलब्ध नही हो सकती।'

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति-पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किये। पिछले अध्याय मे हम इस समस्या पर संक्षेप में विचार कर चुके हैं। विनयकुमार सरकार ने कुमारस्वामी की मान्यताओं का कि राधाकृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि 'राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मासल चित्रण, तथा शृंगार के कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों में हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नहीं पाते। कुमार-स्वामी ने अपने को भ्रम मे भुलाया है।'[2]

सूरदास के चित्रणों को, जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मांसल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्रायः विद्यापति की शैली के सदृश या संभवतः उसी से प्रभावित होकर नखशिख-वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ि परिपाटी में लिखे हुए हैं, हम शृंगारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते ? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुतः यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्तिपूर्ण काव्य लिखते आ रहे है। नखशिख वर्णन कभी भक्ति में बाधक नही हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबंध 'वैष्णव कवि की रूपोपासना' में एक स्थान पर लिखा है कि 'वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात् जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वही उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना, आत्म-निवेदन में

2. Love in Hindu liter-ature, 1916, Page 20-21

अपना सर्वस्व आहुति कर देता है।"[१] मैंने विद्यापति के 'अपरूप' के सिलसिले में कहा था कि वह पार्थिव सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु है। विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य-कल्पना न तो बिहारी आदि की तरह थकती है और न तो सूर की तरह समर्पण कर देती है। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं। बहुत से आलोचक नखशिख वर्णन को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें मानव सौन्दर्य का खण्डशः वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नहीं है। विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का—स्थूल दृष्टि से कहें तो नखशिख का वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं बल्कि उसके प्रत्येक हिस्से को उद्भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिये किया है; प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों से नारी के शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और भी अधिक शालीन और स्वस्थ ढंग से उपस्थित करना चाहता है। मैंने शुरू में ही कहा कि विद्यापति रूप के पार्थिव बन्धन में बँधे हुए कवि नहीं है, यदि वे मासल रूप के बन्धन में बँधे होते तो जन्म भर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की बात न करते। वस्तुतः वे इस तमाम खण्डित रूप-तत्त्वों के बीच प्रवहमान अखण्ड रूप-तत्त्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे।

प्रकृति-परिवेश

प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। मानव-जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करने वाली, उसे चेतना और प्रेरणा प्रदान करने वाली मायाशक्ति के रूप मे प्रकृति की भारतीय वाङमय मे अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनद्ध रूप में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्तुलन तथा सहयोग में जीवन की समफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ से वशीभूत होकर जब जव प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।" भारतीय कवियो ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीति-काव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

विद्यापति के काव्य में भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप मे उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरूकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते है। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत बड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तित एक ही कवि किसी वस्तु को एक क्षण में 'कुछ' देखता है और किसी

दूसरे क्षण में कुछ । प्रकृति का यह निरीक्षण लेखक के सौन्दर्य बोध (Sense of beauty) से निश्चित अनुचालित होता है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रियो ने इसी आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के दो मुख्य उद्देश्य बताये हैं । पहला सौन्दर्य का उपभोग और उससे आनन्द की उपलब्धि, दूसरा सौन्दर्य का निर्माण यानी कला को जन्म देने वाली भावना (Art impulse) । इस प्रकार सौन्दर्य बोध के वास्तविक विश्लेषण का अर्थ है कलाकार की सौन्दर्य-ग्राहिका प्रवृत्ति का विश्लेषण। प्रवृत्ति का पता दो प्रकार से चलता है। खास वस्तुओं में लेखक की दिलचस्पी से और प्रकृति के प्रति या सौन्दर्य के आधार के प्रति उसकी जागरूकता से। दिलचस्पी या किसी खास वस्तु के प्रति लेखक की रुझान की जानकारी उसकी रुचि का पता देती है। प्रत्येक मनुष्य उत्तम से उत्तम सौन्दर्य की वस्तु से केवल उतना ही आनन्द प्राप्त कर सकता है जितना उसकी योग्यता या पात्रता के द्वारा प्राप्त हो सकता है। कवि या कलाकार की श्रेष्ठता इसी बात में निर्भर करती है कि वह सौन्दर्य के किस रूप की, और कितने ऊँचे स्तर के रूप की अभ्यर्थना करता है। यहीं पर कलाकार के लिए कल्पना और यथार्थ का प्रश्न उपस्थित होता है। विश्व में उपलब्ध सौन्दर्य हमारी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण हमें खण्डशः ही प्राप्त होता है या जो कुछ प्राप्त होता है वह हमारे सम्पूर्ण आदर्श के सामने खण्डित ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे कवि या लेखक कल्पना के आधार पर इसे पूरा करने का, अपनी रुचि और कलात्मक रुझान के मुताबिक सम्पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। कान्ट ने इसी आधार पर कल्पना को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए कहा कि 'कल्पना एक दूसरी प्रकृति का निर्माण करती है, उन्ही तमाम साधनो से, जो उसे वास्तविक प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। अपनी रुचि और समझ के मुताबिक कवि भावो के नाना रूपो की सहायता और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग के आधार पर एक ऐसी पूर्ण वस्तु का निर्माण करता है जिसके समानान्तर कोई दूसरी वस्तु प्रकृति में उपलब्ध नही हो सकती।'

सौन्दर्य-बोध की उपयोगिता के बारे में आध्यात्मवादी आलोचकों ने एक दूसरे ढंग से भी विचार किया है उनका कहना है कि प्रकृति अराजकता का समूह नहीं है, उसके प्रत्येक स्पन्दन में एक निश्चित नियम या ऋत की प्रेरणा कार्य करती है। कवि या लेखक प्रकृति के अन्दर निहित इसी सत्य का अन्वेषण करता है। प्रकृति स्वतः यह महत् कला है। साहित्य ससीम और असीम के बीच की कड़ी है। कवि अपनी सीमित शक्ति से प्रकृति के खण्डशः प्रस्तुत चित्रों के माध्यम से अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्ति करता है। कवि प्रकृति की सारी सम्पदा को अपना साधन बनाकर सार्वभौम अदृश्य सत्ता को व्यक्त करता है। विद्यापति ने प्रकृति के नाना उपकरणो को—उसके सौन्दर्य के विविध आकर्षणो को इसी दृष्टि से देखा था। 'मध्ययुगेर वैष्णव साहित्य' में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "चण्डीदास दुनिया के ऊपर के पक्षी हैं, जहाँ लौकिक सौन्दर्य बिखर जाता है, किन्तु वहाँ स्वर्ग छूता है, विद्यापति दिन भर धूप से स्नात गुफाओं, पुष्पित उद्यानों में घूमते हैं और शाम को उनकी लालसा इतनी ऊपर उठ जाती है कि वे प्रथम कवि को लाँघ जाते है।" प्रकृति विद्यापति के काव्य में दो प्रकार से उपस्थित होती है। एक तो वह आलम्बन या वर्ण्य विषय के रूप में दिखाई पड़ती है, कहीं वह मात्र उद्दीपन बनकर आती है। हमारे देश में ऋतुओं का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रों में ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था, वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिकऋषि आह्लादयुक्त भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था। उसे प्रकृति के उग्र रूप का अनुभव था, और इस प्रचंड-भीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था। वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं। कालिदास के ऋतुसंहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लिए मानवीय रति या शृंगार के उद्दीपन का मात्र

साधन बनकर ही नहीं रह गई है, फिर भी उसमें स्वाभाविकता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओं के विवरण में रूढ़ियों का प्रभाव गाढा होने लगा था। शुक्ल जी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई है। उन्होंने लिखा कि ऐसा अनुमान होता है कि "कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले से ही दृश्यवर्णन के सम्बन्ध में कवियो ने दो मार्ग निकाले। स्थल वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनो तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नही समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतुवर्णन वैसे ही फुटकल पद्यो के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारह-मासा' पढ़ा जाता है।"[1]

षड्ऋतु और बारहमासा

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढिग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ रूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियो के लिये बना बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे बना देना रह गया। काव्य-मीमासा में काल-विभाग के अन्तर्गत इस प्रकार का पूरा विवरण एकत्र मिल जाता है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों में कही-कही अन्तर आ जाता है किन्तु कवि को कवि-परम्परा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश के अनुसार नही।[2]

देशेषु पदार्थाना व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियों और निरीक्षण-उपलब्धियो का कोई मूल्य नही।

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी, सम्वत् २००२ पृ० २१।
२. काव्य मीमांसा, पटना, १९५४ पृ० २६२।

विद्यापति के पहले इस काव्य प्रकार में कई रचनायें लिखी गई है। ब्रजभाषा की अवहट्ट या पिंगल शैली में भी और आरम्भिक शुद्ध ब्रजभाषा में भी। इनमें सन्देशरासक का षट्ऋतु वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु-वर्णन के पद, पृथ्वीराजरासो का षड्ऋतुवर्णन, नेमिनाथ चौपई का बारह-मासा आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण-रचनाएँ है। संदेशरासक और पृथ्वीराजरासो के षड्ऋतु वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पडते है। सदेशरासक का ऋतुवर्णन विरहिणी नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासो से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोपितपतिका से उसकी दिनचर्या पूछता है, वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघरेखा से विनिर्गत चन्द्रमा के समान, नायिका का निर्मल वदन इस प्रकार विरह-धूम से श्यामल हो रहा है। और तब नायिका एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु में विदा होने वाले प्रियतम के वियोग का सविस्तर वर्णन सुना जाती है। सन्देश- रासक का ऋतु-वर्णन कविप्रथा के अनुसार निश्चित वस्तुओं की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नही, किन्तु जैसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलकार और वाह्य वस्तु निरूपक वर्णन वाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह कातर विरहिणी के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है।'[1]

रासो का ऋतु वर्णन यद्यपि विरहशंकिता नायिकाओं के हृदय की पीड़ा को व्यजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है किन्तु इन पदों में संयोगकालीन स्मृतियो की विवृति दिखाई पड़ती है, इसीलिए इसे हम 'संयोगकालीन उद्दीपन ऋतुवर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। संयोगिता से मिलने के लिये उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ में उपस्थित होना चाहते हैं, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते हैं, किन्तु रानियों का ऐसे ऋतु में वाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नही पाते और रुक जाते हैं। रासो के ऋतुवर्णन की विशेषताओ पर डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृतपैंगलम् एक सग्रह

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ८४।
२. वही, पृ० ८२-८३।

काव्य है इसलिए छन्दों के उदाहरण के लिए उसमें पद्य संकलित किये गए हैं। उसमें पूर्णता के साथ षट्ऋतु वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य मे स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओ का चित्रण, वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतु-वर्णन प्रसंग से लिया गया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का एक चित्रण देखिए—

फुल्लिअ केसु कम्प तंह पअलिअ मंजरि तेजिअ चूआ
दक्खिन वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ
केअइ धूलि सब्ब दिसि पसरइ पीअर सव्वउँ भासे
आउ वसन्त काइ सहि करिअइ अन्त ण थक्कइ पासे
(प्राकृत पैंगलम् पृ० २१२)

प्राकृत पैंगलम् के एक और पद में (पृ० ५८७ पद २१३) ऋतु वर्णन-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। इस पद में शिशिर के वीतने और वसन्त के आगमन का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्राकृतपैंगलम में ऐसे ऋतु वर्णन वाले पदो की विशेषता यह है कि इनमे प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतुसंहार की परम्परा म है अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नही है, प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

नेमिनाथ चतुष्पदिका[1] और नरहरि भट्ट के ऋतु वर्णन बारहमासा पद्धति में लिखे हुए है। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तार वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग में उनकी परिणीता राजमती आसाढ से आरम्भ करके ज्येष्ठ तक के वारह महीनो की अपनी विरह-पीड़ा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखि को सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसंग पीछे दिये हुए है। षड्ऋतु और वारहमासा सम्बन्धी रचनायें गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियो मे प्राप्त होती है। इन रचनाओं की वस्तु तथा भाव-धारा का विश्लेषण करने

१. गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, नम्बर १३, १६२६ बड़ौदा।

पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग शृंगार का काव्य है जबकि बारहमासा विरह या विप्रलंभ का। वैसे संदेशरासक में षड्ऋतु का वर्णन विरहप्रधान है, जो इस मान्यता के विरुद्ध में दिखाई पड़ता है, किन्तु अधिकांश रचनाओं से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में संयोग काव्य की प्रथा में ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनों ही के प्रसंग आते हैं। षड्ऋतु वर्णन खंड में पद्मावती और रतनसेन के संयोग-शृंगार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आने वाले नागमती वियोग खंड में नागमती के विरह का वर्णन बारहमासा की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को संलक्ष्य करके आ० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग सुख के सम्बन्ध में षट्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसंग में बारहमासा का चित्रण किया गया है।'[1] नेमिनाथ चतुष्पादिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे में भी वियोग-वेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है—

मोर पिया सखि गेल दुर देस
जीवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहयों निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहा जोगिनि वेस

आषाढ़ के नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दुःख की काली छाया निरन्तर घनी होती जा रही है और पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश को सूनी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देने वाला ज्येष्ठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यन्त कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमास में अंकित किया है।[2] सूरदास ने बारहमासे की शैली

१. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, सम्वत् २००२ काशी पृ० २६।
२. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१।

में अलंग से कोई काव्य नहीं लिखा, किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। व्रजभाषा के परवर्ती लेखकों ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (सम्वत् १६४६) का ऋतुवर्णन अपनी अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण की कुशलता तथा भाषा से स्वाभाविक प्रवाह के लिए प्रसिद्ध है। सम्वत् १८८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हंसराज ने बारहमासो की रचना की।

इन बारहमासो मे प्रकृति का चित्रण प्राय: आषाढ़ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु में ऋतु का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से दिखाया जाता है। ऋतु संहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमो के अपवाद भी कम दिखाई नहीं पड़ते है। उदाहरण के लिए गुजराती में अठारहवी शती में लिखा इन्द्रावतीकृत षड्ऋतु वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है। उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री-दयाराम ने सम्वत् १८४५ में लिखे गए षड्ऋतु विरह वर्णन काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[1] षड्ऋतु मे जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है–[2]

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई सुऋतु चैत बैसाख सुहाई
चंदन चीर पहरि धरि अंगा सेंदुर दीन्ह विहंसि भर मंगा

सन्देशरासक में षड्ऋतु वर्णन का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे प्रसंग में आषाढ से आरम्भ की पद्धति प्राय. सर्वमान्य दिखाई पड़ती है।

कविप्रिया में केशवदास ने १०वें प्रभाव में बारहमासा का वर्णन चैत्र से किया है, जो फाल्गुन में समाप्त होता है। ७वें प्रभाव में षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[3] अलंकारशेखर में १६वें मरीचि में

---

१. गुजराती साहित्य नां स्वरूप, पृ० २५८–६०

२. जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १९८१ सम्वत्, षषड्ऋतु वर्णन खंड दोहा ५।

३. कविप्रिया, केशव ग्रन्थावली खंड १, सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १९५४, पृ० १५७–१६० तथा १३६–१३८।

षड्ऋतु वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[1] वैसे भी इस देश में नव वर्ष का आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनो में माना जाता है। राजशेखर के अनुसार ज्योतिषशास्त्रवेत्ता सम्वत्सर का आरम्भ चैत्र मास से यानी वसन्त ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते है। 'स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः (काव्यमीमासा १८ वाँ अध्याय)।'[3] इसी आधार पर राजशेखर ने जो ऋतुओं का क्रम बताया है वह वर्षा से आरम्भ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म।[1] यहाँ पर वर्षारम्भ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियो ने स्वीकार किया है। लगता है कि राजशेखर के काल मे भी इस क्रम में व्यत्यय होता था इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऋतुक्रम में व्यत्यय करने से कोई दोष नही पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह प्रसंगानुकूल हो[1]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड् ऋतु और बारहमासा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं—

(१) दोनों ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य प्रकार हैं, किन्तु सामान्यत. षड्ऋतु का वर्णन संयोग श्रृंगार में और बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अतः अपवाद भी मिलते है।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानो पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्रायः आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।

(३) इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ हो गई है। कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पड़ती है।

---

२. श्री माणिक्य चन्द्रकारित श्री केशवमिश्र कृत अलंकार शेखर, सम्पादक शिवदत्त, बम्बई १६२६, पृ० ५६।
३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पटना १६५४ पृ० २३८।
४. वही, पृ० २६३।

जैसा कि पहले ही निवेदन किया गया है, विद्यापति के प्रकृति-वर्णन दो श्रेणियों मे रखे जा सकते है (१) वर्ण्य वस्तु के रूप में, (२) उद्दीपन के रूप में।

प्रथम प्रकार के वर्णन में ऋतुओं का वर्णन, या प्रकृति के किसी खास रूप का वर्णन कवि ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत किया है किन्तु उसे पूर्णतया प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वसन्त का कई पदों में स्वतंत्र वर्णन हुआ है, कवि ने वसन्त को कहीं बालक रूप में, कहीं तरुण रूप में और कई स्थानों पर राजा के रूप में चित्रित किया है, ऐसे प्रसंगों में उन्होंने प्रकृति को मनुष्य की भावनाओ की दासी तो नही बनाया किन्तु इन वर्णनो में प्राय मानवीय भावो का आरोप किया गया है और इनकी सुन्दरता या उन्मादकारिता का मुख्य कारण मानव हृदय को आह्लादित करने की शक्ति को ही बताता है। इसलिए वसन्त के जितने विशेषण है वे सभी मनुष्य के मन को प्रसन्न करने वाले गुणो के द्योतक है—जैसे आयल उन्मद समय वसन्त, या आएल वसन्त सकल जन रंजक, या आएल वसन्त सकल रस मण्डल आदि। हाँ, वसन्त वर्णन में अभिव्यक्त उल्लास की शक्ति को देखते हुए इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कवि के मन में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और अकृत्रिम रुझान दिखाई पड़ती है। वसन्त राजा की भाँति वनस्थली में प्रवेश करता है, राजा के सम्मान में नवोत्पन्न पत्तों ने सिंहासन स्थापित किया, कांचन कुसुमों ने माथे पर छत्र रखा, आम्र-मुकुल शिरोभूषण हुआ, पक्षी, कलकल ध्वनि में आशीर्वाद का उच्चारण कर रहे हैं, कुसुम पराग श्वेत चँदोवे की तरह छा गया। तरु ने कुन्दलता की पताकाएँ फहरा दी।

नृप आसन नव पीठल पात
कांचन कुसुम छत्र धरु मात
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय
सुमुख कि कोकिल पंचम गाय

सिखि कुल नाचत अलि कुल जंत्र
द्विज कुल आन पढ आसिख मंत्र
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग
मलय पवन सह भेल अनुराग
कुन्द वल्ली तरु धएल, निशान
पाटल तूण अशोक दलवान

कवि वसन्त के स्वागत में मत्त मयूर की तरह नाच उठता है। इन कविताओं मे प्राचीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरण के लिए जयदेव ने गीतगोविन्द में वसन्त का वर्णन करते हुए उन्मद मदन महीपति के बारे में प्रायः उपर्युक्त बाते ही लिखी हैं—

मृगमदसारभरभसवंशवद नव दल माल तमाले
युव जन हृदय विदारण-मनसिज नख रुचि किंशुकजाले ।४।
मदन महीपति कनकदण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे
मिलित शिलीमुख पाटलपटल कृतस्मर तूण विलासे ।५।
(गीतगोविन्द काव्यम्, पहला सर्ग)

वसन्त के वर्णन में विद्यापति ने एक आत्मीयता और निकटता का भाव संयोजित कर दिया है। वसन्त उनके लिए जैसे विदेश से लौटा हुआ कोई परिजन है, स्वजन जिसके स्वागत में लाज-संकोच की आवश्यकता नही। वे हृदय के सम्पूर्ण उच्छ्वासों के साथ ऋतुराज के स्वागत में खड़े हैं—

नाचहु रे तरुनि तजहु लाज
आएल वसन्त ऋतु बनिक राज

एक दूसरे स्थान पर उनकी नायिका अपनी सखियो से वसन्तराज का 'चुमावन' करने को कहती है। उसने वसन्त को बैठने के लिए नवीन किसलयो का आसन दिया, धवल कमल मांगलिक कलश के रूप में स्थापित किया। मकरन्द ही मन्दाकिनी का पवित्र जल है, अरुण अशोक के दीप जलाये। आज पुण्य दिवस है; वसन्त राज का वरण करो। पूर्ण चन्द्र

मागलिक दधि है, (दधि-तिलक की उपमा चन्द्रमा से दी है) भ्रमरी ने दौड़कर सबको बुलाया, किंशुक के फल ने सिन्दूर प्रदान किया, केतकी की धूल (पराग) वस्त्र की तरह छा गई,—

अभिनव पल्लव वइसक देल
धवल कमल फुल पुरहल भेल
करु मकरद मँदाकिनि पान
अरुन असोक दीप दहु आन
माइ हे आज दिवस पुतुमन्त
करिअ चुमावन राय वसन्त
सपुन सुधानिधि दधि भय गेल
भमि भमि भमरि हँकारइ देल
टेसु कुसुम सिन्दूर सम भास
केतकि धूल विथरहु पट वास
भनइ विद्यापति कवि कंठहार
रस बुझ सिवसिह सिव अवतार

इस प्रकार के सांगरूपकयुक्त वर्णनों में कवि ने प्रकृति के विभिन्न उपकरणो का बहुत सूक्ष्म और बिम्बग्राही वर्णन प्रस्तुत नही किया है। ऐसे प्रसगो की विशेषता इतनी ही है कि इनके द्वारा कवि के मन का एक अद्‌भुत उल्लास और प्रकृति को मानवीय रूपों में देखने की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का पता चलता है। वसन्त को बालक, तरुण, दूल्हा, राजा आदि रूपों में रखकर उसका जो वर्णन किया गया है उसमें हमारे जीवन के लोकाचारों का पूरा निर्वाह किया गया है।

वसन्त के साथ कुछेक और ऋतुओं का भी स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। पावस वर्णन में कवि ने उसकी भयंकरता का अच्छा चित्रण किया है।

आएल पाउस निविड़ अन्धकार
सघन नीर बरसय जलधार
घन हन देखियत विघटित रंग
पथ चलइत पथिकहु मन भंग

नदिया जोरा भहु अथाह
भीम भुजंगम पथ चललाह,

अभिसार के प्रसंगों में कवि ने रास्ते की बाधाओं आदि के वर्णन के उद्देश्य से काली पावस रातों का प्रायः भयङ्कर वर्णन किया है। लेकिन उद्देश्य जो भी रहा हो, ऐसे वर्णनों में कवि की सूक्ष्य दर्शिता का पता भी चलता है—

जलद सरिस जलधार
काजरे रागलि राति
भमए भजंगम भीम
पंके पुरल चौसीम
दिग मग देखिए घोर
पयर दिअ विजुरी अजोर

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन विद्यापति के काव्य में गौण है, मुख्य है उसका उद्दीपन के रूप में चित्रण ही। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त रूढ कवि-व्यापार है, इसमे सन्देह नही किन्तु इस परिपाटी को मानने वाले कवि के लिए उसमें नूतन आकर्षण पैदा करना बहुत कठिन होता है। विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णनों में अपनी निरन्तर जागरूकता, सूक्ष्मदर्शिता और संवेदनशीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया है। विरहिणी के लिए प्रिय-विरह की बरसाती रातें कितनी दारुण हैं। भादो की काली रातो में विरहिणी के दुःख की सीमायें टूट जाती हैं। वह कहती है-बादलों से भरा हुआ भादों—और प्रिय से रिक्त मेरा घर, इस असीम दुःख का कही अन्त नही। कवि ने वर्षा के साथ घटित घटनाओं, बादलों की गर्जन, झझा, शंपापात, मत्त मयूर की आवाज से उत्पन्न ध्वनियों को शब्दो में बाँध कर विरहिणी-हृदय की विभिन्न परिस्थितियों से उनकी तुलना करके सम्पूर्ण प्रकृति को व्यक्ति के दुःख में लय कर दिया है—

सखि हे हमर दुखक नहि ओर
ई भर बादर माह भादर, सुनू मंदिर मोर
झपि घन गरजन्ति संन्तत
भुवन भरि बरसन्तिया

न्त पाहुन काम दारुण
सघन खर सर हन्तिया
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि
अथिर विजुरि क पाँतिया
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि विना दिन रातिया

उद्दीपन के रूप प्रकृति के उपकरणो के प्रयोग मानवीय दुख की इतनी तीव्र व्यजना शायद ही कोई कवि कर सका हो। इस पद मे कवि ने जैसे अपने हृदय की सारी घनीभूत पीड़ा को बिखेर कर रख दिया है। यह पद किसी राजा को समर्पित नही है, कवि ही इस दुःख का एक मात्र साक्षी है। इस कविता में ध्वन्यात्मक वस्तु-व्यापार और उनका मानवीय हृदय की अवस्थाओ से समानान्तर निर्वाह अद्भुत है। बादलो से गगन भरा है, और मेरा घर सूना है। वर्षा का उद्दाम रूप, साक्षात् आँखो के सामने खडा है, चमक, छायान्धकार का नर्तन, मयूरो और दादुरो की आवाज, आँखो के पथ को घोर कालिमा से भर देने वाली रात—विरहिणी अपने पति की आने की बाट देखकर मन को झुठला भी तो नही सकती। और अस्थिर विजली का प्रलय-नर्तन—यह सब कुछ विद्यापति के हृदय के आँसुओ मे स्नात होकर यथार्थ की अनुपम आभा धारण किए हुए है।

विरह वर्णन के लिए कवि ने बारहमासा की पद्धति का भी प्रयोग किया है। विद्यापति के बारसमासा का आरम्भ आषाढ से शुरू होता है। आकाश मे नवीन मेघ जलभार से झुके आ रहे है, विरहिणी का प्रिय इस दारुण ऋतु में न जाने कहाँ है, कुछ पता होता तो शायद वह योगिनी बन कर उसे ढूँढने को निकल पडती—

मास असाढ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहओं निरमेघ

श्रावण में जब बादलो से भयङ्कर जल-वृष्टि शुरू हो जाती है, अन्धकार के कारण पथ तक नहीं सूझता, चारो तरफ बिजली की रेखायें कौधती रहती हैं, उस समय उसे अपने जीने में सन्देह होने लगता है—

साओन मास बरसि घन वारि
पंथ न सूझे निसि अंधियारि
चौदिसि देखिए विजुरी रेह
हे सखि कामिनि जीवन संदेह

भादो की काली रातें, चारो तरफ मयूरों और दादुरों के रव से भर जाती हैं, सौभाग्यशाली युवतियाँ चौक-चौककर अपने प्रियतम की गोद में छिप जाती हैं। आश्विन मे चित्त व्यर्थ की आशा धारण करता है कि प्रिय आयेगे किन्तु निष्करुण नाथ सुधि तक नही लेते, सरोवर मे चक्रवाक-मिथुन क्रीडा करते हैं, किन्तु मेरे लिए यह मास ही शत्रु हो गया है। कातिक मास आया किन्तु देशान्तर से कन्त नही आया। सबके लिए नवीन चन्द्र की ये रातें सुखपूर्ण है किन्तु हमे तो प्रिय ने दु ख की पीड़ा ही सौपी है। अगहन मास तो निश्चय ही इस जीव का अन्त कर देगा। मुझ अकेली रमणी को यह विरहाग्नि प्रिय के आते न आते अवश्य जलाकर क्षार कर देगी—

पूस खीन दिन दीघरि राति
पिया परदेस मलिन भेल कांति
हेरओं चौदिस झंख ओ रोय
नाह विछोह काहु जन होय
माघ मास घन पड़ए तुसार
झिलमिल कंचुआ उनत घन हार
पुनमति सूतलि प्रियतम कोर
बिधि वस दैव बाम भेल मोर

फागुन मास में धनि का जी उचाट हो गया, वह रो-रोकर पति की राह देखती रही, मत्त कोकिल ने पंचम स्वर में गाना आरंभ कर दिया। चैत में प्रिय का प्रवास चौगुना अखरने लगा, चतुर माली फूलो का विकास समझता है, नागर जन होकर भी मेरे प्रभु असयान ही रहे–

बैसाखे तवे खर मरन समान
कामिनि कन्त हरए पंचबान
न जुड़ि छाहरि न सरिस वारि
हम जे अभागिनि पापिनि नारि
जेठ मास ऊजर नव रंग
कन्त चहए खलु कामिनि संग
रूप नरायन पूरबु आस
भनइ विद्यापति बारहमास

विद्यापति के काव्य में प्रकृति का वर्णन इन्ही दो रूपो में दिखाई पड़ता है। कवि ने विरह की अवस्थाओ में जाने प्रकृति को कितने रूपो में देखा है, सुख के दिनो में जो प्रकृति विद्यापति को चाँदनी के मायाजाल में बाँधे रही, भौंरो की गुजार और फूलो की महक ने मन को उद्रेक और लालसाओ से भर दिया, उसी प्रकृति को उन्होने विरह के दिनो मे जाने कितने रूपो में रुलाया। उसपर व्यग्य किया। किन्तु उनके मन में इस प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम सदैव वर्तमान था।

सामाजिक चेतना—

समाज और कवि के सम्बन्धों पर काफी वाद-विवाद हुआ है। आलोचकों का एक वर्ग किसी कवि या लेखक की सफलता का सबसे बड़ा मानदण्ड उसकी सामाजिक चेतना को मानता है और उसके साहित्य के हर पहलू का अध्ययन समाज को परिपार्श्व में रखकर करना चाहता है। और ऐसी अवस्था में जब समाज में कई प्रकार की विचार-धारायें संघर्ष-रत हों, और प्रत्येक मतवाद के मानने वाले हर दूसरे को अस्वस्थ, प्रतिक्रियावादी और रूढ़ग्रस्त तथा विकास के प्रतिकूल कहते हों यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन कवि स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियो का पोषक है और किसने अस्वस्थ और रुग्ण मानव-मन के चित्रण में ही अपना समय नष्ट किया है। कई बार एक कवि की रचनाये भी मतवादो के इस कुहा-जाल मे पड़कर नाना प्रकार की मान्यताओ का शिकार हो जाती है। उदाहरण के लिये आधुनिक युग के किसी कवि को लीजिए। उसके साहित्य के अध्ययन करने वाले किन्ही दो आलोचको का मत मिलता नजर न आयगा। एक ही कवि की रचनाओ को कुछ आलोचक 'हाथीदाँत की मीनार' में रहने वाला, समाज से दूर और कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति के दिमाग की उपज बतायेंगे, उन्ही रचनाओ को दूसरे आलोचक समाज की यथातथ्य प्रवृत्तियो का आईना, स्वस्थ समाज का निर्माण करने वाली और सामाजिक यथार्थ को सही रूपो में चित्रित करने वाली बतायेंगे। आधुनिक युग के समसामयिक कवि को परस्पर-युद्धरत आलोचको के दाँव-पेचो का शिकार होना पडता हो या पैंतरेबाजी मे झटका खा जाने का अंदेशा हो तो आश्चर्य नही, किन्तु जब यह पैंतरेबाजी किसी प्राचीन कवि के भाग्य का निर्णय करने पर तुल जाती है और उस साधक कवि के तत्कालीन समाज को

न देखकर अपने सामाजिक जीवन के चश्मे से देखा जाने लगता है, तब सही अर्थों में अनर्थ की परम्परा खड़ी हो जाती है। प्रसाद जी ने पिछले खेवे के सिद्धों के साहित्य को उनकी स्वच्छन्द आनन्दवादी प्रवृत्ति के कारण रहस्यवादी बताया, वे रहस्यवादी कवि को विवेक-संत्रस्त मर्यादावादी कवियो से श्रेष्ठ समझते थे, दूसरी ओर शुक्ल जी इन गुह्य साधकों को समाज-द्रोही कहते हैं। राहुल सांकृत्यायन जैसे मार्क्सवादी आलोचक सिद्धो के साहित्य को क्रान्तिकारी, रूढ़ि-विरोधी और नवीन चेतना से पूर्ण बताते हैं। इन परस्पर विरोधी मतवादो के घटाटोप में साधारण पाठक के लिए यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि ये कवि कैसे थे।

विद्यापति को शृंगारी कवि कहने वालो ने उन्हें समाज से बहुत दूर किसी लता-कुंज में विहार करने वाला या दर्बार के वातावरण मे घिरे हुए संकुचित घेरे का कवि समझ लिया। विद्यापति दरबारी कवि थे अवश्य किन्तु वे अपने चारो तरफ के वातावरण के प्रति कम जागरूक नही थे। यह दूसरी बात है कि उन्होंने सिद्धों या निर्गुण सन्तो, खास तौर से कबीर की तरह समाज के एक विशेष वर्ग के प्रति या उस वर्ग की मान्यताओ, रूढ़ियो आदि के प्रति उग्र विरोध प्रकट नही किया। किन्तु किसी प्राचीन मान्यता के प्रति उग्र विरोध प्रकट करना ही सामाजिक चेतना या जागरूकता का लक्षण नही है। और न तो सामाजिक यथार्थ का मतलब वर्ग-सघर्ष की भावना का चित्रण करना ही समझा जाना चाहिए। इस कसौटी पर परखने पर बहुत से श्रेष्ठ कवि 'हाथी दाँत की मीनार' के वासिन्दे ही प्रतीत होगे। वस्तुत इससे बड़ी कुत्सित समाजशास्त्रीयता और कुछ नही होगी कि हम किसी कवि की रचनाओ में अपनी मान्यताओ का प्रतिफलन या अपने न्यस्त अभिप्रायो का अकन ही ढूढा करे। सामाजिक यथार्थ साहित्य में बहुत सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्ति पाता है। कवि राजनीतिक की तरह मतवाद का प्रचार नही कर सकता और न तो समाचार-सम्पादक की तरह किसी घटना या परिस्थिति का चित्रण ही करना पसन्द करेगा। साहित्य की अपनी मर्यादा और शैली है, उस शैली में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने में शब्दो या खास प्रकार की वस्तु को ही यथार्थ मानने-

वालों को थोड़ा कष्ट अवश्य होगा। विरह के गीत में वैयक्तिक मन का चित्रण ही प्रमुख होता है। इसमें थोड़ा यथार्थवाद नहीं मिलेगा किन्तु समझदार व्यक्ति विरहगीतों में भी स्वस्थ और अस्वस्थ प्रवृत्तियों का भेद बता सकता है। विरहिणी नायिका का अवसाद कभी इतना व्यापक होता है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को अपने दुःख में दुःखी न देखकर आक्रोश से भर उठती है, या सम्पूर्ण विश्व को बुरा-भला कहने लगती है, ऐसा भी हो सकता है कि विरह में पीड़ित नायिका अपने दुःख में इतनी घोर निराशा-वादी हो जाये कि आत्महत्या करने पर तत्पर हो जाये। दूसरी तरफ ऐसी भी नायिका हो सकती है जो अपने दुःख में व्यथित रहने पर भी दूसरों के दुःख में हाथ बँटाती है, उसका निजी दुःख दूसरों के कष्टों को समझने की प्रेरणा देता है, शक्ति और उत्साह देता है। इन दोनों परिस्थितियों का अन्तर बड़े सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। ऊपर से दोनों ही चित्रणों को प्रेम वियोग कहकर सामाजिक यथार्थ का चश्मा लगाकर तिर-स्कृत किया जा सकता है। विद्यापति ने प्रेम-विरह के चित्रण में सर्वत्र स्वस्थ मनोवृत्ति का ही अंकन किया है, ऐसा तो मैं नहीं कहता; किन्तु इतना सत्य है कि विद्यापति की राधा अपने विरह में भी निराश नहीं है और न तो वह संसार का किंचित् भी अमंगल सोच पाती है। यही नहीं जहाँ नायिका अपनी विरह की पीड़ा से व्याकुलित चित्त होकर अपना नाश कर देना चाहती है वहाँ विद्यापति उसे आश्वासन देते हुए उसके प्रिय के मिलने की आशा बँधाते हैं:—

सून सेज मोंहि सालए रे
पिया बिनु घर मोयें आजि
बिनती करों सहलोलनि रे
मोंहि देह अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आइ मिलत पिय तोर

विरह के इन गीतों में जहाँ नायिका आत्म-ग्लानि से पीड़ित होकर हजारों तरह की परिस्थितियों की कल्पना करके अपने दुःसह दुःख की भयंकरता

से ऊब कर अनिष्ट की बात सोचती है, कवि उस प्रत्येक परिस्थिति में सखी के मुख से पथिक के मुख से या स्वयं कवि-मुख से आश्वासन के दो शब्द, आशादायक दो बातें अवश्य कहते हैं। विद्यापति के इन गीतों को गाकर जाने कितनी प्रोषितपतिकायें सुदूर कर्मरत अपने प्रेमियों, पतियो के विश्लेष दु:ख को सँभालने में समर्थ हुई होगी। ऐसे गीतों को स्वस्थ प्रवृत्तियो का विकास न कहकर और क्या कहा जायेगा ?

विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने विरहिणी नायिका के दुःख का चित्रण करते वक्त उसे रानी या राजकुमारी की भूमिका में नही रखा है, जो उनके लिए ज्यादा उचित और उस वातावरण के अनुकूल होता। कवि ने नायिका के रूप मे एक ऐसी नारी की कल्पना की है जिसके चारो तरफ शील और मर्यादा की बाड़ लगी है, परिवार है, सासु और ननद की पहरा देती आँखें है। ऐसी अवस्था में नायिका अपने पति से मिलने के लिए जो कुछ कहती है, वह भारतीय गार्हस्थिक मर्यादा के भीतर ही।

विद्यापति की रचनाओ मे यथार्थ के अन्य रूपों का भी बडा बारीक चित्रण हुआ है। तत्कालीन कुरीतियो आदि पर कवि ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। उनकी आँखो के सामने होने वाली अजीब घटनाएँ उन्हें आक्रोश से भर देती है; किन्तु विद्यापति ने विडम्बना-पीड़ित नायिका पर या उसके पति पर व्यंग्य नही किया है, वे समाज की उन रूढियो पर व्यंग्य करते है। ऐसी परिस्थिति मे ऐसे कार्यों के लिए उत्तरदायी ही दोषी है। विद्यापति ऐसे लोगो पर क्रोध नही करते, बड़े हँसमुख ढंग से वे उनके मर्म पर प्रहार करते है। युवती लड़की की शादी बालक पति से हो गई, आगे क्या हुआ, यह उन्ही के मुख से सुनिये—

४ पिया मोर बालक हम तरुनी
कौन तप चुकलौह भेलौह जननी
पहिर लेल सखि एक दछिन क चीर
पिया के देखैते मोर दगध शरीर
पिया लेली गोद कै चललि बजार
हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार

नहिं मोर देवर कि नहिं छोट भाइ
पुरुब लिखल छल बालमु हमार
वाट रे बटोरिया कि तुहु मोरा भाइ
हमरो समाद नैहरे लेले जाउ
कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाइ
दुधवा पियाइ के पोसता जमाइ

लड़की के बाप पर कैसा तीखा व्यग्य है। लडकी अपने बाप से कहती है कि अपने इस जमाई के लिए दूध पीने को गाय भिजवा दो. विद्यापति ने लडकी के मूर्ख बाप की भर्त्सना नही की, उसे बेवकूफ नही कहा और न उसका समाज के लोगो द्वारा उपहास कराया, व्यग्य किया कितना तीखा और मार्मिक।

यथार्थ की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी कूटनी नारी पर लिखी कविता में हुई है। यह सत्य है कि उस कविता में आर्थिक वैपम्य या दीनता का जिक्र वैसा नही है जैसा कि आजकल की यथार्थवादी कही जाने वाली कविताओ मे होता है। यह संभव भी नही था क्योकि चौदहवी शताव्दी के एक कवि को न तो आजकल का यह बुद्धिवादी वातावरण प्राप्त था न उसके सामने वर्ग-संघर्ष की वर्तमान परिस्थियाँ ही स्पष्ट थी। इसी कारण इस कविता मे दुःख की अभिव्यक्ति है, लेकिन दूसरे तरह से। कामकला के प्रचार ने जिस प्रकार के छिछले प्रणय का प्रचार किया उसमें कुटनी नारी या शिप्ट शब्दों मे दूती का महत्त्व था। यह दूती केवल प्रेमी-प्रेमिकाओ के स्वाभाविक प्रेम-व्यापार मे ही सहायता नही देती थी वल्कि नागरजनो की काम-वासना की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के जाल फेंककर भोली-भाली मूर्ख लडकियो को फँसाने का भी कार्य करती थी। एक ऐसी ही दूती जो अपने सम्पूर्ण यौवन-काल को इस प्रकार के छल-छद्म पूर्ण प्रेम-व्यापार या व्यवसाय में व्यतीत कर चुकी है, वृद्धावस्था आने पर अपने पूर्व जीवन के प्रति विरक्ति या निराशा से भर उठती है। कूटनी औरतें न केवल पर नारी को लोभादि दिलाकर फँसाने का ही कार्य

करती थी बल्कि स्वय भी एक प्रकार से वेश्या का जीवन व्यतीत करती थी। विद्यापति ने एक ऐसी ही वृद्धा कूटनी का चित्रण इन शब्दो में उपस्थित किया है—

हम धनि कूटनी परिनत नारि
बैसहु वास न कहौ विचारि
काहु के पान काहु दिग्र सान
कत न हकारि कएलं अपमान
कय परमाद धिया मोर भेल
आहे यौवन कतय चल गेल
भाँगल कपोल अलक भरि साजु
संकुल लोचने काजर आजु
धवला केस कुसुम करु वास
अधिक सिंगार अधिक उपहास
थोथर थैया थन दुहुँ भेल
गरुअ नितम्ब कहाँ चलि गेल
यौवन सेस सुखायेल अग
पाछु हेर विलुलइते अनंग
खने खस घोघट विघट समाज
खने खने अब हकारलि लाज
भनहिं विद्यापति रस नहिं छेओ
हासिनि देइ पति देवसिंह देओ

वयस और स्थान का बिना विचार करके बात करने वाली मैं कूटनी वृद्धा हूँ, किसी को पान देती हूँ किसी को इशारा करती हूँ। जाने कितने लोगो को बुलाकर मैंने अपना अपमान किया है। मेरी लड़की को मेरे चरित्र के कारण जाने कितने प्रकार के प्रवादो का सामना करना पडा है। मेरा यौवन चला गया, सूखे गालों को मैं अलको से ढँकती हूँ, धँसी हुई आँखो को अंजन से छिपाती हूँ, धवल बालो को फूलो से सुवासित करती हूँ, जितना ही अधिक शृंगार करती हूँ, उतना ही अधिक उपहास होता है।

यौवन के प्रतीक कुच थोथर होकर लटक गए। नितम्बों की गुरुता लुप्त हो गई। यौवन शेष हुआ, अंग सूख गए, अनंग पीछे भूमि पर लोट रहा है। दुष्टों के समाज में जब भी घूँघट गिर पड़ता है, क्षण-क्षण मैं लज्जा को पुकारती हूँ, पर वह दूर चली गई है, विद्यापति कहते हैं कि रस को (यौवन को) इस तरह नष्ट नही करना चाहिए।

विद्यापति ने समाज मे कुत्सित जीवन व्यतीत करने वाली इस नारी का चित्रण कितनी सहानुभूति से किया है। सहानुभूति ऊपर से लादी हुई नही है। आप उसकी आत्म-ग्लानि और अपने किये हुए कार्यों पर पश्चात्ताप की भावना के कारण अपनी सहानुभूति देने के लिए विवश हैं। वह अपने चरित्र के कारण अपनी लड़की पर लगाये जाने वाले प्रवादो से दुःखी है, वह जानती है कि यौवन-च्युत नारी का यह कृत्रिम शृंगार उसका उपहास करता है, परन्तु वह अपनी परिस्थितियों के कारण विवश है, कवि ने आर्थिक परिस्थितियो का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इस ओर काफी साफ ढंग से संकेत कर दिया है।

विद्यापति के कृष्ण नंदराजा के राजकुमार नही, ग्वाल थे, इसलिए विद्यापति ने जिस वातावरण मे उन्हे उपस्थित किया है, वह उसी के उपयुक्त है। राधा कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि कैसा मूर्ख है यह कृष्ण, कही कौड़ी से घोड़ा खरीदा जाता है या उधार मागने से घी मिलता है? बैठने का स्थान नही, खाने को व्यजन मांगता है। आज तो बड़ा मजा आया। कान्हा का मिथ्या गौरव चूर-चूर हो गया। आकर पाँव के पास प्वाल पर बैठ गया। बेचारा पूछने लगा, शय्या कहाँ लगी है। पास मे फटी हुई चटाई है और मन मे पलंग। अहीरिनियो के नाथ की बात ही क्या कहना :—

कउड़ि पठओले पाव नहिं घोर
घीव उधार माँग मति भोर
वास न पावए मॉग उपाति
लोभ क रासि पुरुप थिक जाति

कि कहव आज कि कौतुक भेलि
अपर्दहि कान्ह क गौरव गेलि
आयल वैसल पाँव पोआर
सेज क कहिनी पूछये विचार
ओछाओन खण्डतरि पलिया चाह
आओर कहब कत अहिरिनि नाह
भनइ विद्यापति पहु गुनवन्त
सिरि सिवसिंह लखिमा देइ कन्त

विद्यापति की सामाजिक चेतना का परिचय एक और प्रकार से मिलता है। उन्होने सारे अभिजात प्रयोगों के वावजूद कई स्थानो पर घोर ग्राम्य या लोक प्रसूत प्रयोग किये है। ऐसे प्रयोगो से कवि की पैठ और वात-चीत की स्वाभाविकता को ग्रहण करने की कोशिश का पता चलता है। मुहावरे और कहावतो के प्रयोग में विद्यावति ने कमाल कर दिया है। खास तौर से ये प्रयोग राधा तथा अन्य गोपियो की वात-चीत मे दिखाई पड़ते है। लोक प्रयोग प्राय. स्त्रियो के वार्तालाप मे ज्यादा सुरक्षित रहते भी है। उदाहरण के लिए थोड़े से प्रयोग नीचे दिये जाते है—

सखि हे वूझल कान्ह गोआर
पितरक टाँड़ काज दुहु कओन लहु
ऊपर चकमक सार

कान्ह बिल्कुल गँवार है यह मैंने आज जाना। पीतल का टाँड़ (आभूषण) ऊपर से सोने का मुलम्मा। यह चमक दमक से कोई काम सरने वाला नही।

तोहर वचन कूप धँस जोरल
ते हम गेलिहुँ अवाटे
चन्दन भरम सिमर आलिगल
सालि रहल हिय काँटे

तेरी झूठी बातों मे पडकर मै कुएँ में कूद पडी, वेराह चली। चन्दन के भ्रम से मैंने सेहुँड को छाती से लगाया, 'हृदय में काँटे साल रहे है।

सुजन क वचन खोट नहिं लाग
जिन दृढ करु आलका दाग

सुजन के कडे वचन मे कभी कभी नही जाता जैसे अच्छी तरह लगाया हुआ आलता (ऐपन) का दाग जल्दी नही छूटता।

मानिनी गोपी अपनी सखी से कहती है कि उस मूर्ख ने कमल का अभिनव पुष्प नीम के दोने में फेंक दिया, जो वही सूख कर बिखर गया। 'नीम के पत्ते का दोना' प्रयोग देखिये। इसमे कटुता व तिक्तता का भाव है साथ ही कमल फूल नीम के दोने मे फेंकना, का अर्थ गुण को न समझना भी है–

अभिनव एक कमल फुल सजनी
दोना नीम क डार
सेओ फूल ओतहिं सुखायल सजनी
रसमय फुलल नेवार

गोपी एक रात का अनुभव सुनाती हुई गँवार कृष्ण की जो विशेषताएँ बताती है, वे इस प्रकार है.—

कि कहब हे सखि रात क बात
मानिक पड़ल कुवानिक हात
काच कचन नहि जानए मूल
गुजा रतन करए समतूल
तन्हि सौ कहाँ पिरीत रसाल
वानर कंठ की मोतिम माल
भनइ विद्यापति इह रस जान
वानर मुह की सोभए पान

विद्यापति ने लोक प्रचलित मुहावरों (Idioms) के प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति दी तथा अपने कथ्य को अधिक जीवन्त और लोक-जीवन-सम्पृक्त बनाया। मुहावरो के साथ ही उन्होंने लोक जीवन के अन्य तत्त्व भी ग्रहण किये। उदाहरण के लिए उनके गीतो में कई स्थानो पर प्रेम-

विरह आदि की सूक्ष्म परिस्थितियो मे लौकिक अन्धविश्वास भूत-प्रेत, टोना-टटका तथा अन्य प्रकार के रूढ़ विश्वासो का प्रयोग हुआ है। यह तो नही कहा जा सकता कि उन्होने इन विश्वासो को हानिकर या अवैज्ञानिक समझ कर इनका प्रतिकार किया, ऐसा करने का वह युग भी नही था; किन्तु उन्होने अपनी सहजता मे ही इनका विरोध, कही विडम्बना दिखाई है। उदाहरण के तौर पर उनके गीत में एक प्रेमिका गोपी अपनी सास को धोखा देने के लिए भूताविष्ट का अभिनय करती है, कृष्ण एक ओझाइन बनकर आते है, और अकेले मे मत्र-प्रयोग की आज्ञा लेकर घर के लोगो को उसके पास से हटा देते है, गोपी का रोग दूर हो जाता है—

✓ निरजन होइ मत्र जव झाड़िए
तव इह होएव भाल
एत सुन जहिला घर दोहे ला ओल
निरजन दुहु एक ठाम
सव जन निकसल बाहर बइसल
पुरलँ कान्ह मन काम
वहु खन अतनु मंत्र पढि झारल
भागल तव सेहो देवा
देव देया सिनि घर सयँ निकलल
चातुरि बूझबि केवा

इस प्रकार के भूत-प्रेत के वहाने के पीछे कितना सत्य होता है, क्या क्या अभिप्राय होते हैं, उनका एक व्यग्यात्मक संकेत यहाँ विद्यापति ने दिया है। राधा के विरह-प्रसगो मे भी इसी प्रकार के लौकिक विश्वासो का प्रयोग किया गया है, इसके कारण ऐसे वर्णन ज्यादा मार्मिक और हृदय-स्पर्शी हो सके है। जैसे कृष्ण के वियोग में राधा का आत्म-ग्लानिपूर्ण यह कहना कि क्या मैं शाम का एकाकी तारा हूँ या भादव चौथ का चाँद जो कलंक के डर से प्रभु मेरी ओर देखना तक नही चाहते। पंक्तियाँ पीछे राधा के विरह के प्रसग में उद्धृत की जा चुकी है।

विद्यापति के काव्य में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जहाँ वे अस्वस्थ और कई रूपों में अनैतिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। रति के वीभत्स वर्णन, विपरीत रति के अश्लील वर्णन तथा विवृत आलिंगन आदि के प्रसंग स्वस्थ प्रवृत्तियों के विरोधी ही कहे जायेंगे। यद्यपि कहीं कहीं कवि ने ऐसे वर्णनों को रूढ़ अप्रस्तुतों की आड़ में ढँकने की कोशिश की है, किन्तु ऐसे प्रसंग भी उद्देश्य के सस्तेपन के कारण कुरुचिपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए पदावली (वेनीपुरी-सम्पादित) का १७२ वाँ पद 'सखि हे कहव किनु नहि फूर' तमाम अलंकरण के आवरण के बावजूद अपनी नग्नता को नही छिपा सका है। विदग्ध-विलास के प्रायः सभी पद इस दोष से पीड़ित हैं। इस प्रकार के वर्णनों के पीछे कैसी मनोवृत्ति काम कर रही थी, इस पर पीछे विस्तार से विचार हो चुका है, उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

दृष्टकूट के पद भी इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति के परिचायक हैं, हालाँकि यह वस्तुगत नही शैलीगत दोष है। डा० विमान विहारी मजूमदार-सम्पादित 'विद्यापति' के एक सौ चौरानवें से लेकर दो सौ संख्या वाले पदों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जैसे कवि ने महज पाठक को परेशान करने के लिए ही वे पदे लिखे हैं, इन सभी पदो के नीचे मजूमदार ने लिखा है कि इसका अर्थ नही मिला। यह रूढ परिपाटी है, इसमें शक नही। संस्कृत में भी इस प्रकार के दृष्टकूट पद बहुत लिखे गए। सूर ने तो इसमें कमाल ही कर दिया। वरन् जो कुछ भी हो यह प्रवृत्ति है अस्वास्थकर ही।

गीतिकाव्य : उदय और विकास

गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परम्परा-प्रशंसित प्रकार है। मानव-मन के अत्यन्त निकट और उसी से निष्पन्न होने के कारण इस काव्य-विधा (फार्म आफ दि पोएट्री) ने हजारो वर्षो से निरन्तर समष्टि-चित्त को प्रभावित किया है। मनुष्य के सुख-दुख और उसके वैयक्तिक भावो, संवेगों और इच्छा-व्यापारो का एकमात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीतिकाव्य को जो स्वीकृति और सम्मान मिला है, वह अद्वितीय है। कविता के विषय में सामान्यत: और गीतिकाव्य के विषय में विशेषत: आज ये शंकाएँ सुनाई पड़ती है कि वर्तमान बौद्धिक युग अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के कारण इन भावनामूलक काव्य-प्रकारो के लिए उतना उपयुक्त नही रहा। कविता ने इसलिए अपने को युगानुकूल बनाने के लिए न केवल अपने कलेवर मे परिवर्तन किया, बल्कि विषय-वस्तु में भी वस्तुगत (आब्जेक्टिव) तथा वैचारिक अभिव्यक्ति को प्रधानता दी। वर्तमान कविता के बुद्धिवादी होने की बात इसी कथन की पुष्टि करती है। गीतिकाव्य चूँकि केवल भावनामूलक और वैयक्तिक अनुभूतियों को वस्तु के रूप में स्वीकार करता है इसलिए उसके लिए तो वर्तमान बौद्धिक युग और भी अधिक अनुपयुक्त ठहरता है। किन्तु इस तर्क की अतिवादी परिणति तो तब होती है जब कि नयी कविता के प्रायोगिक रूपो के हिमायती गीतिकाव्य के कवि को दकियानूस, प्रतिगामी या युग-सत्य के प्रतिदर्शी की उपाधि दे डालते हैं। यह सत्य है कि कोई-कोई युग-विशेष गीतिकाव्य के लिए उतना उपयोगी अथवा उत्साहवर्धक नही होता, किन्तु बौद्धिक होने के कारण ही वर्तमान युग गीतिकाव्य के लिए एकदम अनुपयुक्त नही माना जा सकता। इन परिस्थितियो को देखते

विद्यापति के काव्य में ऐसे स्थलो की भी कमी नही है जहाँ वे अस्वस्थ और कई रूपों में अनैतिक वर्णन प्रस्तुत करते है। रति के वीभत्स वर्णन, विपरीत रति के अश्लील वर्णन तथा विवृत आलिगन आदि के प्रसंग स्वस्थ प्रवृत्तियो के विरोधी ही कहे जायेंगे। यद्यपि कही कही कवि ने ऐसे वर्णनों को रूढ़ अप्रस्तुतों की आड़ में ढँकने की कोशिश की है, किन्तु ऐसे प्रसंग भी उद्देश्य के सस्तेपन के कारण कुरुचिपूर्ण प्रतीत होते है। उदाहरण के लिए पदावली (वेनीपुरी-सम्पादित) का १७२ वाँ पद 'सखि हे कहव किनु नहि फूर' तमाम अलंकरण के आवरण के वावजूद अपनी नग्नता को नही छिपा सका है। विदग्ध-विलास के प्राय: सभी पद इस दोप से पीडित है। इस प्रकार के वर्णनो के पीछे कैसी मनोवृत्ति काम कर रही थी, इस पर पीछे विस्तार से विचार हो चुका है, उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नही प्रतीत होती।

दृष्टकूट के पद भी इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति के परिचायक है, हालाँकि यह वस्तुगत नही शैलीगत दोप है। डा० विमान विहारी मजूमदार-सम्पादित 'विद्यापति' के एक सौ चौरानवें से लेकर दो सौ संख्या वाले पदों को देखने से यह वात स्पष्ट हो जाती है, जैसे कवि ने महज पाठक को परेशान करने के लिए ही वे पदे लिखे है, इन सभी पदों के नीचे मजूमदार ने लिखा है कि इसका अर्थ नही मिला। यह रूढ परिपाटी है, इसमें शक नही। सस्कृत में भी इस प्रकार के दृष्टकूट पद वहुत लिखे गए। सूर ने तो इसमें कमाल ही कर दिया। वरन् जो कुछ भी हो यह प्रवृत्ति है अस्वास्यकर ही।

गीतिकाव्य : उदय और विकास

गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परम्परा-प्रशंसित प्रकार है। मानव-मन के अत्यन्त निकट और उसी से निष्पन्न होने के कारण इस काव्य-विधा (फार्म आफ दि पोएट्री) ने हज़ारो वर्षो से निरन्तर समष्टि-चित्त को प्रभावित किया है। मनुष्य के सुख-दुख और उसके वैयक्तिक भावो, सवेगो और इच्छा-व्यापारो का एकमात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीतिकाव्य को जो स्वीकृति और सम्मान मिला है, वह अद्वितीय है। कविता के विषय में सामान्यत और गीतिकाव्य के विषय में विशेषत: आज ये शंकाएँ सुनाई पडती है कि वर्तमान बौद्धिक युग अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के कारण इन भावनामूलक काव्य-प्रकारो के लिए उतना उपयुक्त नही रहा। कविता ने इसलिए अपने को युगानुकूल बनाने के लिए न केवल अपने कलेवर में परिवर्तन किया, बल्कि विषय-वस्तु में भी वस्तुगत (आब्जेक्टिव) तथा वैचारिक अभिव्यक्ति को प्रधानता दी। वर्तमान कविता के बुद्धिवादी होने की बात इसी कथन की पुष्टि करती है। गीतिकाव्य चूँकि केवल भावनामूलक और वैयक्तिक अनुभूतियो को वस्तु के रूप में स्वीकार करता है इसलिए उसके लिए तो वर्तमान बौद्धिक युग और भी अधिक अनुपयुक्त ठहरता है। किन्तु इस तर्क की अतिवादी परिणति तो तब होती है जब कि नयी कविता के प्रायोगिक रूपो के हिमायती गीतिकाव्य के कवि को दकियानूस, प्रतिगामी या युग-सत्य के प्रतिदर्शी की उपाधि दे डालते हैं। यह सत्य है, कि कोई-कोई युग-विशेष गीतिकाव्य के लिए उतना उपयोगी अथवा उत्साहवर्धक नही होता, किन्तु बौद्धिक होने के कारण ही वर्तमान युग गीतिकाव्य के लिए एकदम अनुपयुक्त नही माना जा सकता। इन परिस्थितियों को देखते

हुए गीतिकाव्य के मूल तत्त्वो, उसके उदय और विकास की अवस्थाओं का पूर्ण परीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है।

गीतिकाव्य क्या है? आरम्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु जिस प्रकार कविता की कोई सुनिश्चित और सर्वमान्य तथा पूर्ण परिभाषा उपस्थित कर सकना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार गीति काव्य की भी कोई खास परिभाषा नही है। मुख्य लक्षणो के संधान के लिए हम दो पहलुओं से विचार कर सकते है। वस्तु की दृष्टि से गीतिकाव्य ज्यादा आत्मपरक होता है, अर्थात् उसमें मानवीय सवेदनात्मक तत्त्वो—इच्छा, सवेग, भावना आदि की प्रधानता होती है। ये लक्षण तो सामान्यतया साहित्यमात्र के कहे जा सकते है, क्योकि साहित्य भी मूलत. भावनामूलक और सवेदनात्मक होता है, किन्तु गीतिकाव्य में यह गुण कुछ अधिक मात्रा मे मिलता है। इसी विशेषता की ओर संकेत करते हुए डा० चार्ल्स मिल्स ने लिखा है कि वस्तुत. गीतिकाव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृतिविशेष में काव्यात्मकता जितनी अधिक होती है वह उसी अनुपात मे गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा वह उतना ही गीतितत्त्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना ही अधिक काव्यात्मक हो वह उतना ही गीतात्मक होता है।[1] स्पष्ट है कि गीतिकाव्य का एक अत्यन्त आवश्यक धर्म उसका भाव-प्रधान होना है। काव्य के अन्य प्रकारो में विवरण, वस्तु वर्णन और अन्य वैचारिक तत्त्व की प्रधानता हो सकती है, किन्तु गीतिकाव्य मे इसके लिए अधिक स्थान नही। भावों की प्रधानता और कोमल अनुभूतियो को वस्तु तत्त्व के रूप में स्वीकार करने के कारण

1. In other words, pure poetry is that which has the essentially poetic quality is lyric poetry. Every composition becomes increasingly lyrical as it becomes more and more poetic, the more poetical a drama is the more lyrical it is. The more poetic an epic, the more lyrical it must be. (Methods and Materials of Literary Criticism. P. 7)

गीतिकाव्य स्वभावतः आत्मपरक (सब्जेक्टिव) हो जाता है। कवि अपने अनुभूत भावों को गीति में ढालता है, वस्तुगत विचारो से वचने के कारण उसकी कृति स्वभावतः ही वैयक्तिक और आत्मपरक होती हैं। दार्शनिक विचारको ने गीतिकाव्य के आध्यात्मिक और वैयक्तिक स्वर को स्वीकार किया है। हीगेल ने गीतिकाव्य की जो परिभाषा दी है वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हीगेल के मत मे गीतिकाव्य का कवि जगत् के सारे तत्त्वों को अपने में समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावो के प्रभाव से इसे पूर्णतः आत्मसात करता है, और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखने वाली शैली में अभिव्यक्त करता है।[1] इस प्रकार गीतिकाव्य कविता के के अन्य प्रकारो से अपनी आत्म-परकता, संवेगपूर्णता और कल्पनाशीलता की विशेषताओ के कारण अलग प्रतीत होता है।

वैयक्तिकता का गुण गीतिकाव्य की किसी एकान्त विशेषता की ओर संकेत नही करता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मिक अनुभूतियाँ अल्पाधिक रूप में अन्य रूपो में भी स्वीकार की जाती हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना कि ये केवल गीतिकाव्य की ही विशषताएँ है, बहुत उचित नही मालूम होता। फिर गीतिकाव्य की परिभाषा का दूसरा पहलू ढूँढ़ना पड़ता है। वह है इसकी शैली। गीतिकाव्य की शैलीगत विशेषता है उसकी गेयता। गीति ग्रीक शब्द Lyric का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका मूल अर्थ है वह गाना जो लायर बाजे के साथ गया जा सके।[2] कालान्तर में इस रूढ़ार्थ में बहुत विकास हुआ—तीन प्रकार से गाये जाने के कारण इसके तीन भेद हुए. समूह गान (Choral); एक व्यक्ति द्वारा गाये जाने वाला (Monodic); नृत्य के साथ गाया जाने वाला (Dorian) । ये भेद विकास की अवस्था तो वताते है, किन्तु गेयता के गुण

1. Quoted by Dr. Gayley in Methods and Materials of Literary Criticism, p. 5.

2. Greek, A poem to be sung to the lyre. (Shipley's Dictionary of World literary terms.)

को किसी-न-किसी रूप में सभी स्वीकार करते है। श्री ई० गोस इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के गीतिकाव्य शीर्षक परिच्छेद में लिखते है कि गीतिकाव्य सामान्य कविता के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है जो किसी गीति-वाद्य के साथ गायी जाती हो या गायी जा सके।[1] यहाँ आत्मपरक या वैयक्तिक अनुभूतियों का गुण बहुत बड़ा भेदक तत्त्व नही माना गया है। श्री गोस केवल गेयता को ही आवश्यक मानते है। गेय कविता को गीतिकाव्य तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इस परिभाषा मे अति व्याप्ति-दोष आ गया है। कोई भी कविता गायी जा सकती है, महाकाव्य तक गाये जा सकते है, अतः केवल गेयता को एकमात्र लक्षण स्वीकार करके गीतिकाव्य की परिभाषा नही बनायी जा सकती।

यूरोप के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने इस काव्य-विधा के सैद्धान्तिक मूल्याकन पर कोई विशेष ध्यान नही दिया है। ग्रीक विचारको ने गीतियो को लक्ष्य किया था। उन्होंने मुख्यतया तीन विभेद भी स्वीकार किये थे जो ऊपर दिये गये है, किन्तु इस विषय के अध्ययन और सैद्धान्तिक सूक्ष्मताओ को व्यक्त करने का कोई प्रयास वहाँ नही दिखाई पड़ता। ग्रीस में विभिन्न अवसरो पर गाये जाने वाले सामयिक गानों का श्रेणी-विभाजन अवश्य किया गया, किन्तु इसे काव्य के एक प्रकार के रूप मे यहाँ भी बहुत महत्त्व नही दिया गया। "यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक गीतिकाव्य के विषय में कोई नियमबद्ध सिद्धान्त निर्धारित नही हो सका था"।[2] परवर्ती काल में कई विचारको ने इस पर विचार किये, किन्तु उपर्युक्त दोनों लक्षणों तक ही विवाद पहुँच कर रह गया। श्री पालग्रेव, जिन्होंने गीति-कविताओं का चयन और संपादन किया,[3] गीतिकाव्य को थोड़े शब्दो में यो रखते है: "गीतिकाव्य इकहरे विचार, अनुभूति या स्थिति का चित्रण है जिसमें संक्षिप्तता, मानवीय भावना का रंग और गति अवश्य होनी चाहिए।" पालग्रेव की इस परि

---

1. In Encyclopedia Britannica 11th Edition, vol. XVII p. 180.
2. Spingran : Literary Criticism of Renaissance, p. 58.
3. Palgrave's Golden Treasury of Songs and Lyrics, preface.

भाषा में दो और लक्षण दिखाई पड़ते है। पहला तो यह कि गीतिकाव्य में एक ही विचार या अनुभूति या स्थिति होनी चाहिए। उसमें उलझन या शाखा-विस्तार अथवा भावो के संघर्ष की स्थिति नही होनी चाहिए। इस दृष्टि से पालग्रेव ने संक्षिप्तता को अनिवार्य गुण स्वीकार किया। यही विशेषता है जो गीतिकाव्य को एक ओर वर्णनात्मक बड़ी कविताओ से अलग करती है, दूसरी ओर उसमें प्रभावान्विति (Totality of effect) को बढ़ाती है। एक भाव होने के कारण इस प्रकार की कविता अधिक सहज और सामान्य जन के लिए बुद्धिगम्य होती है। पालग्रेव ने जिस दूसरी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया, वह है गति की त्वरा (rapidity of movement)। गीतिकाव्य में भाव-शृंखला में परिवर्तन के लिए त्वरा आवश्यक है। सभी काव्य प्रभावित करते है। प्रेषणीयता और रसोद्रेक उसका गुण-धर्म होता है, किन्तु उनमें प्रभावोत्पादन की प्रक्रिया में क्रमिक विकास की स्थिति होती है। त्वरा या शीघ्रता बहुत जरूरी चीज़ नही होती, किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त भावना की अभिव्यक्ति के कारण गीतिकाव्य में यह त्वरा अत्यन्त आवश्यक है। हीगेल भी इन दो विशेषताओ को स्वीकार करते है।[1] उन्होने गीतिकाव्य के लिए दो आवश्यक तत्त्व माने: (१) सम्बद्धता (Unity) पूरे छन्द मे भावाकुलता और प्रभाव की समान स्थिति का अटूट निर्वाह होना चाहिए। अन्यथा प्रभाव में ह्रास की भावना बनी रहती है। (२) कथन और घटना-प्रवाह में शीघ्र परिवर्तन की स्थिति (Swift movement)। नयी बात कहकर उसे पुन. पूर्वकथित हिस्से से जोड़ कर माधुर्य और रसोद्रेक की सृष्टि करना भी गीतिकार का कौशल है। इस गतिशीलता पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि वह हमारी सीमित भावना को समष्टिगत भाव-चित्त के साथ जोड़ता है। इसीलिए हम निरर्थक स्वरो को सुनते हुए किसी अज्ञात भावलोक में डूब जाते है। सगीत हमारी प्रज्ञा को एक क्षण के लिए सासारिक यथार्थ के धरातल से उठा कर कल्पना के भावलोक में

1. J. S. Kedney : Hegel's Aesthetics, Page 282.

अग्रसर करता है। हम स्वरो के आरोह-अवरोह को तथा उसके राग-लहरो के स्पर्श को अनुभव करते हैं और विना किसी संकेत या अर्थ के यह समझ लेते हैं कि अमुक राग शोक-स्थिति का द्योतक है, मायूसी या निराशा का भाव-व्यजक है, अथवा उसमें उल्लास, उत्साह या आनन्दसूचक भावों की प्रधानता है। इन्ही अनुमेय भावो के अनुसार हम सगीत के लयवद्ध स्वरो से प्रभावित होते हैं। वशी की करुण रागिनि का कोई अर्थ नही, वह किसी प्रिया-विश्लेप-दुःख से अभिभूत चित्त की करुणा को शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त नही करती; किन्तु हर सहृदय व्यक्ति इस रागिनि से प्रभावित होता है। पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर वजने वाली शहनाई और मृत्यु के अवसर पर कंपन-भरी विलम्वित स्वरलहरी की करुणा का अन्तर कौन नही जान पाता ? इस प्रकार संगीत सर्वाधिक अशरीरी कला है जो हमारे मन को सीधे स्पर्श करती है। गीति इसी संगीत का सहारा लेता है। वह एक कोमल स्वरलहरी को शब्दशक्ति का सहारा देकर धरती पर उतारता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोमल भावो को पदार्थ से संयुक्त करता है। अर्थहीन स्वरो में वैयक्तिक अनुभूतियो की सृष्टि करता है। वह एक वायवी पदार्थ को धरती पर लाकर उसमे मानवीय सुख-दु.ख की सर्वसामान्य अवस्थाओं से संयुक्त करता है, इसीलिए गीतिकाव्य, संगीत के इस उन्नयन-शील भावोद्रेक-शक्ति के साथ समन्वित होने के कारण प्रभाव की अति तीव्र व्यंजना में सक्षम होता है। प्रो० एस० लाज लिखते हैं कि गीतिकाव्य कल्पना की गति है, जिसके द्वारा ससीम-मानवात्मा असीम के साथ सम्वद्ध होने का प्रयत्न करती है।[1]

इस प्रकार गीतिकाव्य में भाव की एकमेवता, गेयता, प्रभावान्विति और संबद्धता को विशेष लक्षण के रूप में स्वीकार कर सकते है। गीति-काव्य की इन विशिष्टताओं को दृष्टि मे रखते हुए हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इस काव्य-विधा में साहित्य-प्रणयन करने वाला कवि हृदय

1. The lyric, a movement of fancy by which the spirit strives to lift itself from Limited to the universal. by H. Lotze; Out-lines of Aesthetics, translated by G. T. Ladd, page 99.

से कुछ भावुक और अपेक्षाकृत अधिक सवेदनशील व्यक्ति होगा। यह अनुमान बहुत-कुछ ठीक है, किन्तु उसके आधार पर इस प्रकार के कवि को पलायनवादी या जागतिक संघर्षों से घबडानेवाला समझना ठीक नही होगा। कवि के मन मे गीतिकाव्यात्मक भाव की सृष्टि प्रायः शान्ति-विक्षेप के कारण ही होती है। सर्वथा सहज ढंग से चलने वाले जीवनक्रम मे भावना-व्यतिक्रम के कारण जो अशान्ति उत्पन्न होती है वह एक शक्तिशाली भाव को जन्म देती है, जो गीति का रूप ले सकता है। इसलिए मानसिक द्वन्द्व की स्थिति कवि के मन मे अवश्य ही रहती है। युग की समस्याएँ, सघर्षो की अवस्थाएँ भी कवि के मस्तिष्क को प्रभावित करती है। इन वस्तुओ को वह जितनी ही एकाग्रता से सोचता है वे उसके हृदय में उतनी ही प्रबल भावना का रूप धारण करती है, उसके मन में क्षोभ, आक्रोश या निराशा की प्रवृत्तियाँ इन्ही का परिणाम होती है। गीतिकाव्य में इनकी भी अभिव्यक्ति होती है। वीरतापूर्ण गान और राष्ट्रीय संघर्षो से उत्पन्न गीत इसी के उदाहरण है। अपनी सूक्ष्म भावप्रवणता और अभिव्यक्ति की बारीकी के कारण गीति-कविता किसी भी भाव या वस्तु को स्वीकार कर उसे प्राणवान और जीवन्त बना सकती है।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति का प्रश्न भी विचारणीय है। श्री एच० टी० पेक लिखते है कि गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप निश्चित ही इसके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।[1]

काव्य की अन्य विधाओ (फार्म) की तरह गीतिकाव्य चूँकि सचेत बुद्धि-व्यापार से उत्पन्न वस्तु नही है, इसलिए आदिम मानव के अति पुरातन और आरभिक भावो के साथ ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। हालाँकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित काल क्या है, किन्तु इतना तो सहज अनुमेय है ही कि संवेगो की तीव्रता और उद्वेलन की असामान्य परिस्थितियो में भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरो का

1. The Lyrics of Tennyson.

रूप लिया—ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति यही गीतिकाव्य के आदिस्रोत हैं। महादेवी जी लिखती हैं—"संभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनन्द से चहचहा उठती है, जिस प्रकार मेघ को घुमड़ता-घिरता देख कर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावो का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा किया हो।" आदिमानव के उल्लास और शोक के क्षण प्रायः आंगिक गतियों द्वारा व्यक्त होते थे। शब्दों की शक्ति शोकाकुल भावों को व्यक्त करने में सदा असमर्थ होती है, उसी प्रकार अति उल्लास के क्षण भी शब्दके माध्यम से पूर्णतया प्रकट नही हो पाते। ऐसी अवस्था में विकसित मानव तक शारीरिक प्रक्षेप की शरण लेता है। समाज-विकास की आदिम अवस्था में इस तरह की बहुत-सी स्थितियों का संकेत मिलता है, जिसमें शोक-हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए तरह-तरह की आंगिक गतियो (Primitive art of movement) का उपयोग होता था। कविता के आरंभिक रूप के अध्ययन के बाद स्पेंसर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदिम कलाओं, धार्मिक उत्सवों, अनुकरण-प्रधान (mimetic) क्रियाओं, समूह वाद्य और नृत्य के साथ कविता के मूल तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।[1] बहुत-से मनोविज्ञानवेत्ता पंडितों ने गीति के उदय की मनोवैज्ञानिक अवस्था का भी अध्ययन किया। ज्यादा तीव्र संवेगों की अवस्था में हम प्रायः निरर्थक या अर्धसार्थक पदो को बार-बार बड़बड़ाते हैं। प्रायः यही अवस्था किसी न किसी रूप में गीतों के टेक के भीतर भी छिपी हुई है। गीतों के टेक अपनी अर्थहीनता और एकरसता के बावजूद बार-बार दुहराये जाने पर चित्त को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार गीतिकाव्य अपने आदिम या अविकसित रूप में इन प्रारंभिक अभिव्यक्ति की अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मालूम होता है।

गीतों के विकास की पूरी अवस्था हमें जीविकोपार्जन के लिए स्वेद-श्लथ श्रमजीवियों के समूहगानों में दिखाई पड़ती है। प्रारंभिक आदिम

1. Spencer, Frist principles P. 105-108.

समाज में मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के निमित्त समूहबद्ध होकर प्रयत्न करता था, आज भी निचले स्तर के श्रमजीवियों में यह प्रथा देखी जा सकती है। वैसी अवस्था में काम के भार से थक कर लोग उस नीरसता को कम करने के लिए तथा निरन्तर वर्तमान एकधृष्टता (monotony) को मिटाने के लिए गीतो का सहारा लिया करते हैं। ये गीत तात्कालिक कर्तव्य से संबधित नही होते। इन गीतो में हम जीवन के उन क्षणों की अनुभूतियों की विवृत्ति पाते हैं जिनमें मनुष्य सहज धरातल पर खड़ा होकर अपने सुख-दुख को स्वीकार करता है। काडवेल ने कविता के उद्भव में इस प्रवृत्ति को सहायक बताया है। यहाँ पर आलोचको को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के गीति, जिनमें केवल वैयक्तिक सुख-दुख की बात होती है, कर्म के प्रेरक बन कर आते है, थके-हारे लोगो को नवीन उत्साह देते हैं, शक्ति और साहस देते हैं, उन्हें प्रतिगामी या-निरुत्साही नही बनाते। इसलिए गीतिकाव्य की आत्मपरक प्रवृत्ति को युग-विरोधी कहना कोई मूल्य नही रखता। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है कि चिड़ियो से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ युवक कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियो को भूल कर बिरहा या चैती गा उठता है तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी विरह-मिलन की स्मृति को ही दुहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्र-वन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है।[1] इस स्थान पर पुनः एक बार यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि गीतिकाव्य वर्तमान संघर्षमय युग में भावुकता नही सिखाएगा, बल्कि कार्यरत और थके हुए लोगों में नया उत्साह पैदा करेगा।

गीतिकाव्य के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त समाज की बात उठायी जाती है। प्रश्न विचारणीय है। क्योकि विश्व के सभी देशो में गीतिकाव्य लिखे

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका पृ० २०।

रूप लिया—ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति यही गीतिकाव्य के आदिस्रोत है। महादेवी जी लिखती है—"संभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनन्द से चहचहा उठती है, जिस प्रकार मेघ को घुमड़ता-घिरता देख कर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनष्य ने भी पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा किया हो।" आदिमानव के उल्लास और शोक के क्षण प्रायः आंगिक गतियों द्वारा व्यक्त होते थे। शब्दों की शक्ति शोकाकुल भावों को व्यक्त करने में सदा असमर्थ होती है, उसी प्रकार अति उल्लास के क्षण भी शब्दके माध्यम से पूर्णतया प्रकट नही हो पाते। ऐसी अवस्था में विकसित मानव तक शारीरिक प्रक्षेप की शरण लेता है। समाज-विकास की आदिम अवस्था में इस तरह की बहुत-सी स्थितियों का संकेत मिलता है, जिसमें शोक-हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए तरह-तरह की आंगिक गतियो (Primitive art of movement) का उपयोग होता था। कविता के प्रारंभिक रूप के अध्ययन के बाद स्पेंसर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदिम कलाओं, धार्मिक उत्सवो, अनुकरण-प्रधान (mimetic) क्रियाओं, समूह वाद्य और नृत्य के साथ कविता के मूल तत्त्वो का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।[1] बहुत-से मनोविज्ञानवेत्ता पंडितों ने गीति के उदय की मनोवैज्ञानिक अवस्था का भी अध्ययन किया। ज्यादा तीव्र संवेगो की अवस्था में हम प्रायः निरर्थक या अर्धसार्थक पदों को बार-बार बड़बड़ाते हैं। प्रायः यही अवस्था किसी न किसी रूप में गीतों के टेक के भीतर भी छिपी हुई है। गीतो के टेक अपनी अर्थहीनता और एकरसता के बावजूद बार-बार दुहराये जाने पर चित्त को प्रभावित करते है। इस प्रकार गीतिकाव्य अपने आदिम या अविकसित रूप में इन प्रारभिक अभिव्यक्ति की अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मालूम होता है।

गीतों के विकास की पूरी अवस्था हमें जीविकोपार्जन के लिए स्वेद-श्लथ श्रमजीवियो के समूहगानो में दिखाई पड़ती है। प्रारंभिक आदिम

---

1. Spencer, Frist principles P. 105-108.

समाज में मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के निमित्त समूहबद्ध होकर प्रयत्न करता था, आज भी निचले स्तर के श्रमजीवियों में यह प्रथा देखी जा सकती है। वैसी अवस्था में काम के भार से थक कर लोग उस नीर-सता को कम करने के लिए तथा निरन्तर वर्तमान एकधृष्टता (monotony) को मिटाने के लिए गीतो का सहारा लिया करते है। ये गीत तात्कालिक कर्तव्य से संबधित नही होते। इन गीतो में हम जीवन के उन क्षणों की अनुभूतियो की विवृत्ति पाते है जिनमें मनुष्य सहज धरातल पर खड़ा होकर अपने सुख-दुख को स्वीकार करता है। काडवेल ने कविता के उद्भव में इस प्रवृत्ति को सहायक बताया है। यहाँ पर आलोचको को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के गीति, जिनमें केवल वैयक्तिक सुख-दुख की बात होती है, कर्म के प्रेरक बन कर आते है, थके-हारे लोगो को नवीन उत्साह देते है, शक्ति और साहस देते है, उन्हें प्रतिगामी या निरुत्साही नही बनाते। इसलिए गीतिकाव्य की आत्मपरक प्रवृत्ति को युग-विरोधी कहना कोई मूल्य नही रखता। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है कि चिड़ियो से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ युवक कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियो को भूल कर विरहा या चैती गा उठता है तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी विरह-मिलन की स्मृति को ही दुहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्र-वन में पडे झूले की मार्मिक कहानी रहती है।[1] इस स्थान पर पुन. एक बार यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि गीतिकाव्य वर्तमान संघर्षमय युग में भावुकता नही सिखाएगा, बल्कि कार्यरत और थके हुए लोगो में नया उत्साह पैदा करेगा।

गीतिकाव्य के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त समाज की बात उठायी जाती है। प्रश्न विचारणीय है। क्योकि विश्व के सभी देशों में गीतिकाव्य लिखे

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका पृ० २०।

जाते है और लिखे गये हैं। उनका अध्ययन हुआ है और उनकी पृष्ठभूमि के रूप मे उन सामाजिक परिस्थितियो की जाँच भी की गई है, जो किसी-न किसी रूप में इसके विकास या ह्रास का कारण बनी है। पंडितो का विचार है कि सामाजिक रूढ़ियो, बौद्धिकता और विवेकपरस्ती का युग गीतिकाव्य के लिए बहुत उपयुक्त नही होता। इसके विपरीत सघर्ष, रूढि-विरोधिता, क्रान्ति और विघटन के युग मे गीतिकाव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। डा० गेले इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रायः यह माना जाता हैं कि सभ्य देशो में बौद्धिकता और सामाजिक रूढियो का युग, जैसा कि १८वी शती का था, गीतिकाव्य मे प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने के उपयुक्त नही होता।[1] प्राय उस काल मे जब सम्पूर्ण देश मे शान्ति हो, एकछत्र साम्राज्यों का संघटन हो रहा हो, किसी बहुत बड़े व्यक्ति की सत्ता को सारा बुद्धिवादी वर्ग स्वीकार कर लेता हो, तब गीतिकाव्य का ह्रास होता है। उस युग में अधिकाशत महाकाव्यो की रचना होती है। उनके माध्यम से युग की वर्तमान परिस्थितियो का चित्रण किया जाता है। हीगेल ने लिखा है कि महाकाव्य में किसी राष्ट्र का प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है, किन्य गीतियों के वृहद् संग्रह मे राष्ट्र के आन्तरिक और असली स्वरूप का दर्शन कर सकते है।[2] हीगेल के इस कथन मे व्यक्ति के जीवन को प्रधानता दी गयी है। व्यक्ति समाज की अन्तिम इकाई है, उसके जीवन की झलक महाकाव्यों में उस अनुपात मे नही मिल सकती, क्योकि महाकाव्य प्राय अतिमानवीय या महत्तम मानव के जीवन को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि गीतिकाव्य के

1. It has been frequently remarked that among civilized peoples an age of intellectualism and strong social convention, as was the eighteenth century, is unfavourable to the growth of strong lyric sentiment—Method and Materials of Literary Criticism, p. 40

२. वही पुस्तक, डा० गेले द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ४०।

लिए वह युग अनुपयुक्त होगा, जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार न किया जाए।

भारतीय गीतिकाव्य का आरम्भ वैदिक-युग से मान सकते हैं। जैसा कहा गया कि गीतिकाव्य की सत्ता मनुष्य की आदिम अनुभूतियों के साथ जुड़ी हुई है, इसलिए गीतिकाव्य अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्रकार है, किन्तु किसी प्रमाण के अभाव में हम भारतीय गीतिकाव्य का जन्म वैदिक काल के पूर्व नहीं सोच पाते। वैदिक गीतियों में गीतिकाव्य का अत्यन्त ताज़ा, मौलिक और सहज स्वर सुनाई पड़ता है। प्रकृति के भयानक और आश्चर्यजनक रूपों को देखकर आदिम मन की जिज्ञासाएँ भय और विस्मय की स्थितियाँ, त्राण की कामना, स्तुति और श्रद्धा की भावनाएँ इन प्रारम्भिक गीतों में दिखाई पड़ती हैं। संघर्षरत जीवन के समूहगीत, वीरतापूर्ण गाथाएँ, एक कबीले से दूसरे कबीले के युद्ध के समय इष्टदेव से सहायता के लिए विनयपूर्ण याचनाएँ इन गीतों में व्यक्त हुई हैं। ई० डब्ल्यू० हापकिन्स प्राचीन भारतीय गीतिकाव्य को चार भागों में बाँटते हैं। पहला युग वैदिक गीतियों का है, जो ईसापूर्व आठवीं शती से चौथी तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों की प्रधानता है। दूसरा युग ईस्वी पूर्व ४०० से पहली शती तक का है जिसमें भक्ति-भाव प्रधान है। तीसरा काल सहज प्रेम गीतों का है। चौथे में प्रेमगीत तो हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक और रहस्य के साथ वासना के रंगों से मिले-जुले होने के कारण अत्यन्त सघन और उलझे हुए दिखाई पड़ते हैं।[1]

प्राचीन भारतीय गीतिकाव्यों में ज्यादातर धार्मिक और भक्तिपरक स्तुतियाँ ही प्राप्त होती हैं। वैदिक ऋचाएँ गायी जाती थीं। सामवेद इन स्तुतियों और सूक्तों के गाने का विधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार गेयता की मुख्य प्रवृत्ति इन गीतियों में वर्तमान है। वैदिक युग का भारतीय समाज बहुत-कुछ आदिम स्तर का कबीला समाज था। उसमें समूह-श्रम की

1. Hopkins, The Early Lyric Poetry of India, in the India new and old.

प्रथा थी। मनुष्य सामाजिक रूढियों में आज की भाँति आबद्ध न था। उसके आहार-विहार स्वच्छन्द और उन्मुक्त थे। इन सब का प्रभाव इन गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के स्तरों में सामाजिक असन्तुलन और उलझनों के कारण जीवन में जो एकरसता और संदेह की स्थिति बढ़ी, उसका प्रभाव पौराणिक देवों की स्तुतियो तथा रहस्यवादी अशरीरी उपासना के गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के युग में सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक लम्वे अर्से तक गीतिकाव्य का विकास न हो सका। आश्चर्य तो होता है यह देख कर कि संस्कृत के इतने विशाल साहित्य में दसवी शती के पहले कोई वहुत अच्छी श्रेणी का गीतिकाव्य नही लिखा जा सका। संस्कृत गीतिकाव्य का पुनर्विकास जयदेव के 'गीतगोविन्द' मे दिखाई पडा। मध्यकालीन युग में संस्कृत जनभाषा नही रही। प्राकृतो का प्रभाव चौथी शताव्दी से ही वढने लगा था। संस्कृत कवि प्राकृतो को स्वीकार तो करते थे, किन्तु इनका उपयोग ग्रामीण और असभ्य लोगों के वार्तालाप की भाषा के रूप मे ही करते थे। इस तरह जनभाषा के प्रति उनके मन में तिरस्कार की भावना वर्तमान थी। संस्कृत राजकीय व्यक्तियो और अधिकार-प्राप्त (Pirvileged People) शिष्टजनो की भाषा रह गयी, उसमें अभिजात साहित्य की सृष्टि हो रही थी, वह जनसाहित्य से वहुत-कुछ विमुख वनी रही। फलतः जनता में उगने वाले गीतो के स्वर उनके लिए तूती की आवाज बने रहे। जिस समय संस्कृतकाव्य जनधारा से विच्छिन्न हो कर चमत्कार और कुतूहल की सृष्टि को ही कवि-धर्म की इयत्ता मान रहा था, समस्यापूर्ति और चमत्कारोत्पादन को ही कवि-कौशल की सीमा माना जा रहा था, तव लोक-भाषा में एक नवीन प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही थी जो जनजीवन के रस से सिक्त थी, जिसमें धरती की गन्ध और उन्मुक्त पवन की सुरभि रची हुई थी। इस साहित्य को जिसने पहचाना, समझा और सराहा वह बिना रँगे न रह सका, और जिसने इसके तत्त्व को स्वीकार किया, उसके संस्कृत में लिखे काव्य में भी जीवन की सरसता दिखाई पड़ी। ऐसे कवियों में जयदेव प्रमुख है।

उन्होने पूर्वी प्रदेश में प्रचलित प्रेमगीतों को सुना था, सराहा था। उनके गीतो में इसलिए धरती की सोंधी गंध और प्रेम का उन्मुक्त विलास दिखाई पड़ता है। कुछ लोगो का खयाल है कि इस तरह के गीत पूर्वी प्रदेशो मे ही प्रचलित थे। क्योकि बौद्धों के गान, चण्डीदास के पद, और विद्यापति के गीत इसी क्षेत्र की उपज है। किन्तु जल, पवन, धरती जैसे किसी एक प्रदेश की वस्तु नही, फसलें सर्वत्र होती हैं, आकाश में इन्द्रधनुष और जल पर लहरें सर्वत्र बनती-बिगडती हैं, वैसे ही जनता के भाव मे गीतियो का जन्म-विकास सभी जगह समान रूप से होता है, उसमें जातिभेद सभव है, प्रकार भेद हो सकता है, किन्तु अभाव कही सभव नही। ग्यारहवी शती के क्षेमेन्द्र कवि ने भी इसी प्रकार का गीतिकाव्य लिखा था। अपने दशावतार वर्णन में कवि ने लिखा है कि जब गोविन्द मथुरापुरी को चले गये, तो वियोग-क्षिप्त-हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे गोविन्द का गुण-गान करने लगी। गोपियो ने जो गान गाया उसे कवि ने मात्रिक छन्दो में लिखा है। अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस तरह के गान अपने आस-पास सुने होंगे–[1]

ललितविलासकलासुख खेलन
ललनालोभनशोभनयौवन
मानितनवमदन
अलिकुल कोकिलकुवलयकज्जल
कालकलिन्दसुताविगलज्जल
कालियकुलदमने

पद्य और बड़ा है। इसकी भाषा और शैली की समानता जयदेव के गीत-गोविन्द में ढूँढी जा सकती है।

हिन्दी के सर्वप्रथम गीतिकाव्य-लेखक विद्यापति है। विद्यापति मध्य-युगीन दरबारी कवियो की परंपरा में होते हुए भी जन-जीवन के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। उन्होने सस्कृत में कविताएँ की जरूर, किन्तु उनकी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य का आदिकाल।

श्रद्धा का अधिकाश 'देसिलवयन' के लिए सुरक्षित था। विद्यापति के मधुर 'गीतो' का प्रभाव सारे पूर्वी प्रदेश पर पड़ा। बगाल के कवियो ने, चण्डीदास तक ने, इन गीतों को आदर्श के रूप मे ग्रहण किया और उनकी भाषा तक को स्वीकार किया। भक्तिकाल मे गीतो के साथ प्रवंध लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लेकिन प्रबंध लिखने मे मुसलमान कवि आगे थे। इसका मूल कारण था कि वे मुगल साम्राज्य के सरक्षित कवि थे, मुसलमानी राज्य के वे विरोधी न थे। तुलसी का काव्य अवश्य ही विरोधी समाज के प्रतिनिधि लेखक की कृति है, किन्तु तुलसी सचेष्ट रूप से एक ओर मध्ययुगीन क्लैसिक महाकवियो की परम्परा मे अपने को रखना चाहते थे, तो दूसरी ओर वे मर्यादा और सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी कवि न थे जो एक गीतिकार को होना चाहिए। इस युग मे गीतिकाव्य प्राय: कृष्णभक्त कवियो ने लिखे, प्रेम और भक्ति की मूलधारा इस में सुरक्षित है। कृष्णभक्त कवि तुलसी की तरह न तो मर्यादवादी थे और न पुरानी रूढियो के समर्थक। इसलिए उनके काव्य मे गीतों की प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिला।

किन्तु मध्ययुग के इस भक्ति-रीति साहित्य मे गीतिकाव्य की शुद्ध प्रकृति का स्पष्ट आभास नही मिलता। प्रगीत मुक्तको का जो विशाल साहित्य लिखा गया है उसमे गेयता है, व्यक्तिपरकता भी कुछ अंशो मे मिलेगी, किन्तु इसमे गीतात्मक पूर्णता का रूप नहीं मिलता। परवर्ती कवि दरबारी थे, जन-जीवन से दूर, इसलिए इनके काव्य मे एकविधिता (Ste.eotype) मिलेगी। वास्तविक गीतिकाव्य का उदय छायावादी युग मे हुआ जो सामाजिक रूढ़ि और सामन्तवादी व्यवस्था का विरोधी युग था। इस युग के काव्य में व्यक्तिवादी स्वर की अत्यन्त प्रधानता है। कवि को उसके इस अतिवादी रूप को देखकर लोगो ने कभी-कभी पलायनवादी तक कहा, किन्तु छायावादी पलायन-प्रवृत्ति के भीतर देखने पर व्यक्तिवादी अहम् तथा असतोष की जो शक्ति दिखाई पड़ती है, वह अनन्य है।

गीतिकाव्य के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कोई वस्तु नही है जो पलायन, भावुकता और बुद्धि-विरोधिता को प्रश्रय देती है। यूरोपीय

आलोचकों ने तो यह भी स्वीकार किया है कि विचारात्मक वस्तु भी इस काव्य-माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। उन्होने वीरगाथात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियो को भी इस काव्य का परिगृहीत वस्तुतत्त्व माना है । ऐसी अवस्था में यह कहना कि वर्तमान युग मे यह माध्यम अनुपयुक्त हो गया है, कोई खास अर्थ नही रखता। इस गीति-प्रवृत्ति को स्वीकार करके, आवश्यकतानुसार परिवर्तन और परिष्कार करके, नये संदर्भ में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। एक ओर जहाँ रूप इसके प्रयोग द्वारा कविता को निरा गद्य काव्य होने से बचा लेंगे, वही दूसरी ओर काव्य के कथ्य को ज्यादा व्यापक समाज तक पहुँचाने मे समक्ष होंगे। मध्ययुग के बहुत-से विचारको—कबीर आदि ने सिद्धो और सतो ने इस तरह के प्रयोग किये थे । खतरा यह अवश्य है कि हम गीतिकाव्य को प्रश्रय देने के जोश में व्यक्ति-केन्द्रित होकर समाजविरोधी या उपेक्षात्मक ढंग से आत्मरति ही मे ग़र्क न हो जाएँ।

विद्यापति के गीत

गीति-काव्य के उपर्युक्त विवेचन और उससे उपलब्ध तत्त्वों को दृष्टि मे रख कर विद्यापति के गीतों का विश्लेपण करने पर उसकी बहुत सी विशेषताओं और त्रुटियों का पता चलता है। विद्यापति के गीतों की सब से बड़ी विशेषता है, संगीतात्मकता। संगीत गीतों में दो प्रकार से संलक्ष्य हो सकता है। एक तो यह है कि वे गीत विभिन्न वाद्यों के साथ किसी प्रणाली मे गाये जा सकते हों, दूसरा यह कि संगीत की मूल-भूत विशेपता यानी लय और उसकी आत्मा की गीतों में अवस्थिति। स्पष्टतः यों कहा जा सकता है कि बहुत से गीत शास्त्रीय संगीत मे गाये जाकर या कवि द्वारा निश्चित राग-रागिनी में आबद्ध होकर संगीत का विषय बनते हैं किन्तु बहुत से गीत ऐसे हैं जिन्हें असंगीतज्ञ मनुष्य भी अपने मन में दुहरा कर उनकी लयमयता से, उनके भीतर निहित संगीतात्मक तत्त्व से आनन्द प्राप्त करता है। विद्यापति स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, मैं गायक नही कहता क्योकि इसका कोई प्रमाण नही मिलता, वैसे अपने बहुत से पदों के अन्त में वे सर्वत्र 'विद्यापति कवि गाओल' ही लिखते है। गीत की जानकारी का पता दो प्रकार से चलता है। एक तो कवि ने अपने गीतो के लिये राग-रागिनियों का निर्णय कर दिया है—डा० सुभद्र झा द्वारा सम्पादित विद्यापति-गीत-संग्रह में जितने भी पद दिये हुए है वे सभी राग-वद्ध हैं। इस संग्रह के आरम्भिक छप्पन गीत मालव राग मे, सत्तावन से एक सौ तीस तक के गीत धनछरी राग में, एक सौ इकतीस से एक सौ पैंतीस तक आसावरी राग में, एक सौ छत्तीस से १४६ तक मलारी राग मे, १४७ वाँ सामरी राग में, १४८ वें से १५४ वें तक अहिरानी राग में, १५५ वें से १५७ तक केदार राग में, १५८ से १६२ तक कानड़ा

राग में, १६३ से १६४ तक कोलर राग में, १६६ से २०२ तक सारंगी राग में, २०३ से २०७ तक गुजरी राग, तथा आगे भी कई पद वसन्त विभास, नाटराग, ललित, वरली, आदि रागो में दिये हुए है। ये राग कवि द्वारा निर्धारित हो सकते है, किसी दूसरे सगीतज्ञ द्वारा भी ये राग-बद्ध किये गए, ऐसा भी हो सकता है। वैसे विद्यापति के कुछ गीतों में शब्दो के साथ कही कही लेखक ने वाद्य स्वरो को भी दे दिया है, जैसे ये गीत गाये जाने के लिए ही लिखे गए थे। यथा :

वाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलावति माति श्याम सँग
कर करताल प्रबधक ध्वनिया ।२।
डम डम डंफ डिमिक डिम मादल
रुन झुन मजीर बोल।
किंकिनि रन रनि वलआ कनकनि
निधुवन रास तुमुल उतरोल ।४।
बीन रवाव मुरज स्वर मडल
सा, रि, ग म प ध नि सा बहु निधि भाव
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि
चंचल स्वर मंडल करु राव ।६।
स्रम भर गलित लुलित कवरीयुत
मालति माल बिथारल मोति
समय वसत रास रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति ।८।

ऐसे पदो को देखने से विद्यापति न केवल संगीतप्रेमी बल्कि संगीतज्ञ प्रतीत होते है। संगीतज्ञ कवियों बैजू बावरा और गोपाल नायक का ज़िक्र हमने सास्कृतिक पृष्ठभूमि के पर्यवेक्षण के सिलसिले में पीछे किया है। इन कवियो की कविताओ में भी शब्दों के बीच में ताल और स्वर के सकेत दिये हुए है। मध्यकालीन कवि के लिए संगीतज्ञ होना तब आवश्यक भी

था, इसलिए भक्तिकाल के हिन्दी कवियों ने भी अपनी कविताओ के राग-आदि निश्चित कर दिये है।

लेकिन बहुत से गीत ऐसे है जो सगीत के तत्वो से स्पष्टतया बाधित न होकर अपनी आत्मा की संगीतमयता के कारण हमें प्रभावित करते है। ऐसे गीत मन मे निहित व्यक्तव्य भाव के अनुकूल ही लय का निश्चित रूप लेकर अवतरित हुए है। इन गीतो मे जैसे मानव मन मे परम्परा, संस्कार और सुख-दुःख के हजारो क्षणो मे प्राप्त अनुभूतियो की लहर की कम्पन है; ये गीत-मानव मन में अभिलषित भाव के साथ इतना शीघ्र तादात्म्य स्थापित कर लेते है कि जैसे ये हमारे मन की ही उपज हों, इसी कारण इस प्रकार के गीत संगीत की वाह्य परिपाटी से अनुचालित न होकर मनुष्य के मन में अवस्थित शाश्वत सगीत से प्रेरित होते है। इन पदों मे शब्द और अर्थ की गुरुता नही होती, इनके शब्द अत्यन्त सहज और बहुप्रचलित शब्द साकेतिक ढंग से भाव की अभिव्यक्ति कर देते है, ऐसे शब्द जो सैकड़ो वर्षों से जन-मानस मे उसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते आ रहे है—इसी कारण ऐसे पदो मे भाव की अभिव्यक्ति शब्द से नही लय की आत्मा के आधार पर होती है। जैसे—

कुंज भवन सँय निकसलि रे
रोकल गिरधारी
एकहि नगर वस माधव रे
जनि कर बटमारी
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे
फाटत नव सारी
अपजस होएत जगत भरि रे
जनि करिअ उधारी
सँग क सखी अगुआइल रे
हम एकसरि नारी
दामिनि आए तुलाइल रे
एक राति अँधियारी

शब्द निर्व्याज सहज है, अलंकरण का कही नाम नही, पूरे पद में एक खास प्रकार का उल्लासभरा आग्रह, लय की बार-बार टूटती-उठती मनुहार और इन सबके ऊपर ऐसे चलते हुए शब्दों का प्रयोग इस गीत को प्राणवान बनाता है। एक बात और ध्यान देने की है। कवि ने बडी योग्यता से ऐसे गीतो में भाव की एकसूत्रता की भी रक्षा की है। वैसे उस गीत की सहजता के भीतर अर्थ की कमी नही है, संकेत प्रचुर हैं—सब कुछ ऊपर से कहा जा रहा है, सखी का निर्जन में होना, बिजली की भयकारी स्थिति, जिसे उन्होने बिजली का तुलाइत, तुलित होना कहा है तथा रात की अँधियारी। गोपी के प्रेमोच्छ्वास के संकेत है, आवर्जन के नहीं।

ऐसे गीतो में इतनी सहजता क्यो है? आधुनिक कवियो की कविताओ में खास तौर से गीतो में शोकगीतो की धुन, शब्दावली और सहजता को ग्रहण करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। ऐसे गीतो की प्रशंसा भी इधर खूब हुई है और छायावादी गीतकार भी प्रयोगवादी बनने के लोभ से इसी आसान ट्रिक को अपनाने लगे है, पर इसमें सबसे बड़ी गडबड़ी यह दिखाई पड़ती है कि इन गीतों में भाव की सहजता नही आती, केवल लोक-धुन पकड़ लेने से मध्यवर्गीय जीवन के कुंठाग्रस्त भावो में सहजता लाना असभव है। इसके लिए भावो की ईमानदारी और अनुभूतियो की एकाग्रता अपेक्षित है। विद्यापति के गीतो में लोक गीतों की केवल धुन ही नही, उनकी सहजता और गंभीरतम अनुभूतियो की व्यंजना हुई है, इसी कारण ये गीत बहुत अधिक संवेद्य हो पाये हैं। विद्यापति जैसे दरबारी कवि के लिए लोकगीतो की ओर आकृष्ट होना ही बड़ी बात थी, उन्होने इस आकर्षण को फशन के लिए ग्रहण नही किया, जैसा कि आजकल बहुत से कवि किया करते हैं। इतना ही नही विद्यापति के कई गीत इतने अधिक लोकतत्त्वग्राही है कि वे बिल्कुल लोकगीत मालूम पड़ते हैं। जैसे—

✓ मोरे रे अँगनवाँ चनन केरिं गछिया
ताहि चढ़ कुररय काग रे

सोने चोंच बाँधि देव तोथँ वायस
जयों पिया आवत आज रे
गावह सखि सब झूमर लोरी
मदन अराधन जाउँ रे
चग्रो दिशि नम्पा मग्रोली फूलल
चान एजोरिया रात रे
कइस काय मोयँ मयन अराधव
होइति बड़ि रति सात रे
विद्यापति कवि गाएब तोहर
पहु अछ गुनक निधान रे
राम्रो भोगीसर सब गुन आगर
पदमा देइ रमान रे

प्रोषितपतिका का काक-शकुन-संभापण हमारे लोकगीतों का एक वहुप्रचलित विधान है। अपभ्रंश की लोक-जीवन-सपृक्त रचनाओं में भी 'वायस उड्डावन्तिए' में नायिका का यह प्रेम-विह्वल भाव दिखाई पड़ता है। एक दूसरी कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं। इसमें भी लोक-गीतो की अनलंकृत सुन्दरता और भावों की सहजता दिखाई पडती है—

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे
गरवा मोतीहार
राति जखनि भिनुसरवा रे
पिया आएल हमार
कर कौसल कर कपँइत रे
हरवा उर टार
कर पंकज उर थपइत रे
मुख चन्द निहार
केहनि अभागिल बैरनि रे
भागलि मोर निन्द

भल कए नहिं देखि पाओल रे
गुनमय गोविन्द

विरहिणी गोपी का यह स्वप्न और उस स्वप्न में भी प्रिय के स्पर्श के कल्पित सुख का असमय नींद टूट जाने के कारण तिरोधान तथा इससे उत्पन्न एक निविड़ वेदना का कितना सहज और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। विरहिणी अपने प्रिय के प्रत्येक स्पर्श का वर्णन कितनी ईमानदारी और निश्छल भाव के साथ करती है।

विद्यापति के गीतों पर जयदेव का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। अभिनव जयदेव की उपाधि इसी विशेषता को दृष्टि में रखकर दी गई थी। जयदेव का प्रभाव न केवल प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण और आंगिक मिलन के विविध प्रसंगो में दिखाई पड़ता है बल्कि गीतों की भाषा, शब्द-चयन तथा धुन और लय में भी स्तष्ट उभरता दिखाई पड़ता है। जयदेव के गीतों का प्रभाव दुर्निवार था भी। पिछले खेवे के बहुत से कवियों ने इस शैली का अनुकरण किया। विद्यापति के और जयदेव के गीतों में प्राय. सदश शब्दों या पदावलियों का व्यवहार हुआ है, हम पीछे स्थान-स्थान पर इस ओर संकेत कर चुके है।

अवहट्ठ काव्य

शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ठ शब्द में स्वयं कोई ऐसा संकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश वांङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर[1] ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ईस्वी) और विद्यापति की कीर्त्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगो के और पहले से इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२वीं शती के अद्दहमाण ने अपने संदेशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए
लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहि
ताणउणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
लक्खछन्दपमुक्क कुकवितं को पसंसेइ। (सं० रा० ६-७)

[illegible] ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ठ का नाम लिया है। [illegible] और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का

---

[1] [illegible] भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ठ पैशाची, शौरसेनी मागधी [illegible] का तत्संज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्रावली, [illegible] विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ५५ ख। [illegible] चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

[2] [illegible] [illegible] भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
[illegible] [illegible] मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।
(कीर्तिलता १।१९-२२)

[illegible] अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०।

उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत आलंकारिकों ने एकाधिक बार किया है। षट्भाषा प्रसंग में संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मख कवि के श्रीकंठ-चरित की टीका से पता चलता है कि छ: भाषाओं मे संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश), मागधी, पैशाची, देशी की गणना होती थी—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा
ततोऽपि मागधी प्रागवत् पैशाची देशजाऽपि च।

नवी शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में ६ भाषाओ के प्रसंग मे अपभ्रंश का नाम लिया है—

प्राकृतं संस्कृतं मागध पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
षष्ठोत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः।
(काव्यालंकार २।१)

ऊपर के श्लोक की छ: भाषायें वही है जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में गिनाई है। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनो का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ठ का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणो और आलकारिको द्वारा बहुचर्चित रही है।

इन तीनो प्रयोगो से भिन्न प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ठ को प्राकृत पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् के प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्ता या लेखक १२ वी शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के संपादन के समय, संभवतः 'अवहट्ठ' का अर्थ-बोध कराना नही चाहता था। उसके लिए इस ग्रंथ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कहकर अवहट्ठ कहता है। प्राकृत पैंगलम् की पहली गाथा की टीका मे टीकाकार लिखता है—

पढम भास तरडो
णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका—प्रथमा भापा तरंडः प्रथम आद्य भाषा अवहट्ठ भापा यया भापया अयं ग्रन्थो रचितः सा अवहट्ठ भापा तस्या इत्यर्थ. त प्प पारं प्राप्नोति तथा पिंगल प्रणीत छन्दशास्त्रः प्राययावहट्ठभापा रचितैः तद् ग्रन्थ पारं प्राप्नोतीति भाव. सो पिंगल णाओ जअइ, उत्कर्पेण वर्तते।

(प्राकृत पैंगलम् पृष्ठ ३)

ग्रन्थ का लेखक आरम्भ में भापा को तरंड (नौका) कहकर उसकी वन्दना करता है और वाद में छन्दशास्त्र के आद्याचार्य नाग पिंगल की जयकार करता है। वंशीधर ने संभवतः 'पढम' का अर्थ भापा के दिए लगा लिया जव कि वह वन्दना [के तारतम्य का संकेत है, पहले भापा की तव आचार्य की। यद्यपि वंशीधर ने प्रथम का अर्थ आद्यभापा किया फिर भी निःसंकोच इसे अवहट्ठ भापा ही कहा। अवहट्ठ को आद्य भापा क्यों कहा जाय, इसका कोई स्पष्टीकरण वंशीधर ने नही प्रस्तुत किया। संभवतः आद्यभापा से उनका तात्पर्य नव्य आर्यभापाओं का आरंभिक भापा यानी उद्भावक भापा से था। अवहट्ठ का कोई संकेत लेखक ने नही दिया था किन्तु १६वीं शती के टीकाकार ने इस भापा को अवहट्ठ नाम दिया। यही नही एक दूसरे स्थान पर वंशीधर ने इस भापा के व्याकरणिक ढांचे की मीमासा करते हुए लिखा है : इस भापा यानी अवहट्ठ में पूर्व निपातादि नियमों का अभाव है इसलिए पद-व्याख्या करते समय गडवड़ी को दूर करने के लिए अन्वयादि की यथोचित योजना कर लेनी चाहिए—

'अवहट्ठभापायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति वोध्यम् (प्राकृतपैंगलम् पृ० ४१८)।

वंशीधर ने इस वाक्य द्वारा अवहट्ठ भापा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की वहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदो का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश, यहाँ तक की हेमचन्द्र के दोहो में भी, कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भापाओ में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रवल दिखाई पड़ती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग-

वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गो की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थान वैशिष्ट कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरकीब को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के संकेत से स्पष्ट है, अवहट्ठ भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वंशीधर का अवहट्ठ भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ठ, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, क्यो १२ वी शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ ? पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश मे निहित 'च्युति' को संलक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामो से अभिहित करते थे। स्वयंभू[1], पुष्पदंत[2], जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारिको ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रशअवहट्ठ हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुआ और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद मे अवहट्ठ कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियो अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृतपैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियो ने अपभ्रश नही अवहट्ठ यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा।[3]

---

१ दीह समास पवाहा वंकिय सक्कय पायय पुलिणा लंक्यि
देसी भाषा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२ वायरणु देसि सद्दत्य गाढ (पसणाहचरिउ)
ण विणयामि देसी (महापुराण)

३—अवहट्ठ सम्बन्धी विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५

विद्यापति ने 'देसिल वयना' की प्रशसा करते हुए लिखा है कि उसी तरह के अवहट्ठ में कीर्तिलता काव्य लिखूँगा—

देसिल वयना सव जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा

इस 'तैसन' को लेकर विद्वानों ने बहुत व्यर्थ की माथापच्ची की है। वस्तुत. विद्यापति देसिल वयना से अपनी भाषा मैथिली को सम्वोधित करते है, जव कि अवहट्ठ तत्कालीन सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी।

वैसे विद्यापति की पदावली की भाषा को भी लोचन ने अपनी राग-तरगिणी मे 'मिथिलापभ्रंश' ही कहा है। अपभ्रश शव्द का प्रयोग वहुत ही ढीले-ढाले अर्थ मे होता था। कुछ लोग इसी मिथिलापभ्रंश शव्द को लेकर कीर्तिलता की भाषा को भी मिथिलापभ्रंश ही कहने लगे। पर लोचन कवि ने तो अपने मिथिलापभ्रंश का साफ अर्थ भी लिख दिया है:

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथम मिथिलापभ्रंशभाषायां
श्री विद्यापतिनिवद्धास्ता मैथिलीगीतगतय: प्रदर्शन्ते

लोचन कवि स्पष्टत: विद्यापति के गीतो की मैथिली भाषा को मिथिलापभ्रंश कहते है कीर्तिलता की भाषा के लिए उन्होने ऐसा नही कहा है। अपभ्रंश का अर्थ उनके लिए देशी भाषा था इसीलिए उहोने 'देश्याम' लिखा।

पदावली की भाषा[1] मैथिली है, इसमे शक नही; पर उसपर अवहट्ठ (परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश) का भी कम प्रभाव नही है इसी कारण विभक्तियो और परसर्गो में तथा कुछेक क्रिया रूपो में पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

१४ वी शताब्दि में उत्तर भारत की भाषा स्थिति का पर्यवेक्षण करने पर कुल छ: प्रकार की भाषाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती है।

१४ वी शताव्दी में प्रचलित भाषाओ के विश्लेषण के आधार पर

१—पदावली की भाषा के लिए द्रष्टव्य: शिवनन्द ठाकुर का महाकवि विद्यापति, तथा डा० समुद्र झा का सांग्स आव विद्यापति।

तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

(१) संस्कृत-प्राकृत—दोनो साहित्यिक भाषाये जनता से कटी हुई थोड़े से लोगो के बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थी, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्रीहर्ष का नैपध तत्कालीन सस्कृत और सम-राइच्च कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ है।

(२) शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप—जैन लेखको की रूढ़ अपभ्रश आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी), लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती है।

(३) शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ठ रूप, सिद्धो के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के सन्देशरासक के दोहे इस भाषा के आदर्श है।

(४) अवहट्ठ और राजस्थानी के किंचित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल। प्राकृतपैंगलम्, प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भापा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

(५) पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रंश जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

(६) देश अपभ्रंशो से विकसित जनभाषायें। प्रारभिक मैथिली, राजस्थानी, गुजराती, आदि।

विद्यापति की पदावली की भापा मूलत. नं० ६ के अन्तर्गत सम्मिलित मैथिली है, इसमें शक नही, पर इसपर नं० ३ और ४ का प्रभाव भी कम नही है। अवहट्ठ भाषा में विद्यापति ने कीर्तिलता, कीर्तिपताका और कुछ फुटकल रचनाये लिखी। कीर्तिलता का सबसे पहला सस्करण बँगला में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन मे वगीय सन् १३३१ अर्थात् ईस्वीय १९२४ मे प्रकाशित हुआ। ईस्वी सन् १९२२ में शास्त्री जी नेपाल गए और वही से वे कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। कीर्ति-लता का पहला संस्करण होने के कारण इसमें पाठ और अर्थ की कई भूलें

विद्यापति ने 'देसिल वयना' की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसी तरह के अवहट्ठ में कीर्तिलता काव्य लिखूँगा—

देसिल वयना सव जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पञो अवहट्ठा

इस 'तैसन' को लेकर विद्वानों ने बहुत व्यर्थ की माथापच्ची की है। वस्तुतः विद्यापति देसिल वयना से अपनी भाषा मैथिली को सम्बोधित करते हैं, जब कि अवहट्ठ तत्कालीन सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी।

वैसे विद्यापति की पदावली की भाषा को भी लोचन ने अपनी राग-तरगिणी में 'मिथिलापभ्रंश' ही कहा है। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग बहुत ही ढीले-ढाले अर्थ में होता था। कुछ लोग इसी मिथिलापभ्रंश शब्द को लेकर कीर्तिलता की भाषा को भी मिथिलापभ्रंश ही कहने लगे। पर लोचन कवि ने तो अपने मिथिलापभ्रंश का साफ अर्थ भी लिख दिया है:

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथम मिथिलापभ्रंशभाषाया
श्री विद्यापतिनिवद्धास्ता मैथिलीगीतगतयः प्रदर्शन्ते

लोचन कवि स्पष्टतः विद्यापति के गीतो की मैथिली भाषा को मिथिलापभ्रंश कहते है कीर्तिलता की भाषा के लिए उन्होंने ऐसा नही कहा है। अपभ्रंश का अर्थ उनके लिए देशी भाषा था इसीलिए उहोने 'देश्याम' लिखा।

पदावली की भाषा[1] मैथिली है, इसमें शक नहीं; पर उसपर अवहट्ठ (परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश) का भी कम प्रभाव नही है इसी कारण विभक्तियों और परसर्गो में तथा कुछेक क्रिया रूपो में पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

१४ वी शताब्दि में उत्तर भारत की भाषा स्थिति का पर्यवेक्षण करने पर कुल छः प्रकार की भाषाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती हैं।

१४ वी शताब्दी में प्रचलित भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर

१—पदावली की भाषा के लिए द्रष्टव्य : शिवनन्द ठाकुर का महाकवि विद्यापति, तथा डा० समुद्र झा का सांग्स आव विद्यापति।

तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

(१) संस्कृत-प्राकृत—दोनो साहित्यिक भाषायें जनता से कटी हुई, थोड़े से लोगो के बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थी, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्रीहर्ष का नैषध तत्कालीन संस्कृत और समराइच्च कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ है।

(२) शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप—जैन लेखको की रूढ़ अपभ्रंश आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी), लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती हैं।

(३) शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ठ रूप, सिद्धो के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के सन्देशरासक के दोहे इस भाषा के आदर्श है।

(४) अवहट्ठ और राजस्थानी के किंचित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल। प्राकृतपैंगलम्, प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

(५) पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रंश जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

(६) देश अपभ्रंशो से विकसित जनभाषायें। प्रारंभिक मैथिली, राजस्थानी, गुजराती, आदि।

विद्यापति की पदावली की भाषा मूलतः न० ६ के अन्तर्गत सम्मिलित मैथिली है, इसमें शक नही, पर इसपर न० ३ और ४ का प्रभाव भी कम नही है। अवहट्ठ भाषा में विद्यापति ने कीर्तिलता, कीर्तिपताका और कुछ फुटकल रचनायें लिखी। कीर्तिलता का सबसे पहला संस्करण बँगला में महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन मे वगीय सन् १३३१ अर्थात् ईस्वीय १९२४ में प्रकाशित हुआ। ईस्वी सन् १९२२ मे शास्त्री जी नेपाल गए और वही से वे कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। कीर्तिलता का पहला संस्करण होने के कारण इसमें पाठ और अर्थ की कई भूलें

अतिशयोक्ति के आवरण मे सही ही, काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घटनाओ को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ मे कभी नही लिया गया, बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। युद्ध में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है, जैसे राम, कृष्ण, बद्ध आदि और कुछ में काल्पनिक रोमास का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुतः ऐतिहासिक काव्यो का उदय सामन्तवाद की देन है। भारत में भी ईसा की दूसरी शताब्दी से ही राजस्तुतिपरक रचनाओ का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी तक के काल को अंधेरा युग कहा है क्योंकि उनको इन शताब्दियो में अच्छे काव्य का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डाक्टर ब्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमे कोई वैसा काव्य नही मिल सका है किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार का शिलालेख (ई० १५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्र गुप्त ३५० ई०) जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ ईस्वी में लिखी वत्सभट्टि की मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर सकेत करती हैं। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोकों में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है वह महत्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमें भाव, भाषा सभी कुछ उत्कृष्ट रूप मे दिखाई पड़ते है। फिर भी इतना तो सत्य है कि बाणभट्ट के हर्षचरित के पहले इस प्रकार के स्तुतिपरक ऐतिहासिक काव्यों का कोई सन्धान नही मिलता। हर्षचरित को भी वास्तविक अर्थ में काव्य नही कह सकते, वह आख्यायिका है। संस्कृत

का सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) है जिसमें धारानरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारी के विवाह की कथा वर्णित है। चालुक्यवंशी नरेन्द्र विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के सभा कवि विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रमदाता के चरित्र तथा उसके वंश का वर्णन किया है। इसके वाद तो ऐसिहासिक काव्यो की एक परम्परा ही चल पड़ी और चरित्र, विजय, विलास, आदि नामो से कई ऐतिहासिक काव्य लिखे गए जिनमे कल्हण की राजतरंगिणी (१०५० ई०), हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (१०८९ ई० ११७३ ई०), वस्तु पालके सभा कवि सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी (११७९-१२६२), अरिसिंह का सुकृत सकीर्तन (वस्तुपाल) आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रसूरि ने चौदह सदी मे 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखा तथा १६वी शताव्दी के अन्तिम भाग में अकबर के सामन्त राजा सुरजन की प्रशंसा में गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने 'सुरजन चरित' की रचना की। इसी तरह विजयनगर के नरेशो की प्रशसा में राजनाथ डिंडिम ने 'अच्युतरामाभ्युदय' तथा कम्पराय की रानी गंगा देवी ने अपने पति की प्रशंसा में 'मधुराविजय' का प्रणयन किया। जयानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' की भी एक अधूरी प्रति मिली है जो ओझा जी द्वारा सम्पादित होकर अजमेर में प्रकाशित हुई है।

संस्कृत के ऐतिसाहिक काव्यो की यह परंपरा थोड़ी-बहुत परिवर्तित रूप में प्राकृत और अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। यशोवर्मा के सभा-पंडित वाक्पतिराज का गउडवहो अपनी शली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। अपभ्रंश के रासो ग्रंथ भी एक प्रकार के ऐतिहासिक काव्य ही हैं यद्यपि इनमें कल्पना का रंग ज्यादा गाढा है।

कीर्तिलता भी एक ऐतिहासिक काव्य है। कवि विद्यापति ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए इस काव्य की रचना की। यह एक चरित-काव्य है।

राय चरित्त रसालु यहु णाह न राखहिं गोइ
कवन वंस को राय सो कित्तिसिंह को होइ

है किन्तु शास्त्री जी का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय और गौरवास्पद है, इसमें शक नही। ईस्वीय सन् १९२९ में डा० बाबूराम सक्सेना के सम्पादन मे कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। यह संस्करण शास्त्री जी के वंगीय संस्करण के बाद प्रकाशित हुआ और सक्सेना जी के पास शास्त्री जी की अपेक्षा सामग्री भी अधिक थी, किन्तु अभाग्यवश यह संस्करण बँगला संस्करण से अच्छा और कम त्रुटि-पूर्ण न हो सका। १९५५ ईस्वी में इन पंक्तियो के लेखक ने कीर्तिलता का नया संशोधित पाठ, उसकी भाषा के विस्तृत विश्लेषण और पाठ-शोध के साथ साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग से प्रकाशित कराया। कीर्तिलता के विषय में इस संस्करण में विस्तार से विचार किया गया है, इसलिए उसे यहाँ दुहराना आवयश्यक नही मालूम होता।

कीर्तिपताका पुस्तक अब तक प्रकाशित नही हो सकी है। बहुत दिनो तक इस पुस्तक की प्राप्ति में ही आशका बनी रही, इधर पटना कालेज में इसकी प्रति की फोटो-कापी के आने की सूचना मिली है, किन्तु जब तक यह सम्पादित होकर प्रकाशित नही हो जाती, इसका काव्यगत मूल्याङ्कन संभव न हो सकेगा।

इन दो बडी रचनाओ के अतिरिक्त विद्यापति ने दो तीन फुटकल रचनाये भी अवहट्ठ मे लिखी, किन्तु इनका साहित्यिक मूल्य नही के बराबर है। डा० विमानबिहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति में पद सख्या ८ और ९ के अन्तर्गत दो रचनायें दी हुई हैं।

ऐसी दशा मे यहाँ केवल कीर्तिलता का ही मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कीर्तिलता की भाषा को देखते हुए सहसा किसी पाठक को विश्वास नही होता कि कीर्तिलता को भी गीतकार विद्यापति ने ही लिखा है। किन्तु 'अवहट्ठ' की हठीली शब्द-योजना के भीतर प्रवेश करने पर किसी भी सहृदय को 'गीतों के गायक' को पहचान सकना कठिन न होगा। जीवन की समष्टि और समग्रता कल्पना के एक क्षण की तुलना

में कठोर-क्रूर होती ही है, और कवि के लिए तो यह सहसा एक चुनौती भी है कि उसकी विधायिका शक्ति इन तमाम क्रूरता-कठोरता को कैसे अभिव्यक्ति दे पाती है। इस दृष्टि से कीर्तिलता के पाठक को एक नए तरह के रस का आस्वाद मिलेगा। इसमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। विद्यापति का भावुक कवि कीर्तिलता मे जैसे जीवन के वास्तविक धरातल पर उतर आया है। और यथार्थ का यह धरातल एक बार के लिए कवि के मन में भी आशका का वीजारोपण कर ही देता है: फिर भी उनके मन को विश्वास है कि चाहे असूया-वृत्ति के दुर्जन इस काव्य की निन्दा ही क्यो न करें, काव्य कला के मर्मी इसकी अवश्य प्रशंसा करेगे।

का परबोधओो कवण मणावओो। किमि नीरस मने रस लए लावओो ॥
जइ सुरसा होसइ मझु भासा। जो बुज्झिह सो करिह पसंसा ॥

महुअर वुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल

शंकर के मस्तक पर सुशोभित द्वितीया के चन्द्रमा की तरह विद्यापति की यह कृति प्रशंसित होगी, ऐसा कवि का विश्वास है और इसमे सन्देह नही कि उनका यह विश्वास आधारहीन नही है।

कीर्तिलता का काव्य-रूप

मध्यकाल के साहित्य मे वृत्तान्त-कथन की तीन प्रमुख शैलियाँ दिखाई पडती है। परवर्ती संस्कृत साहित्य के चरित काव्य या ऐतिहासिक काव्यो की शैली, दूसरी कथा-आख्यायिकाओ की शैली और तीसरी प्रेमाख्यानकों की मसनवी शैली जो पूर्णत विदेशी प्रभाव से विकसित हुई थी।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की शैली भी बहुत प्राचीन नही मालूम होती। विद्वानो की धारणा है कि ६वी ७वी शताब्दी के आस-पास मुसलमानो के सम्पर्क से इस प्रकार की शैली का उदय हुआ है। यह सत्य है कि पिछले खेवे में जिस प्रकार के ऐतिहासिक काव्य लिखे गए वैसे काव्य पूर्ववर्ती साहित्य में नही मिलते किन्तु इतिहास को कल्पना और अति-

शयोक्ति के आवरण में सही ही, काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घटनाओं को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ मे कभी नही लिया गया, वरावर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक वनाने की प्रवृत्ति रही है। युद्ध मे दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक वना दिया गया है, जैसे राम, कृष्ण, बद्ध आदि और कुछ मे काल्पनिक रोमास का आरोप करके निजंधरी कथाओ का आश्रय वना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुत. ऐतिहासिक काव्यों का उदय सामन्तवाद की देन हैं। भारत में भी ईसा की दूसरी शताव्दी से ही राजस्तुतिपरक रचनाओ का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी तक के काल को अधेरा युग कहा है क्योंकि उनको इन शताव्दियो मे अच्छे काव्य का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डाक्टर व्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमें कोई वैसा काव्य नही मिल सका है किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार का शिलालेख (ई० १५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्र गुप्त ३५० ई०) जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ ईस्वी में लिखी वत्सभट्टि की मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर संकेत करती है। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोको में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है वह महत्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमे भाव, भाषा सभी कुछ उत्कृष्ट रूप मे दिखाई पड़ते है। फिर भी इतना तो सत्य है कि वाणभट्ट के हर्षचरित के पहले इस प्रकार के स्तुतिपरक ऐतिहासिक काव्यो का कोई सन्धान नही मिलता। हर्षचरित को भी वास्तविक अर्थ में काव्य नही कह सकते, वह आख्यायिका है। संस्कृत

का सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) है जिसमें धारानरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारी के विवाह की कथा वर्णित है। चालुक्यवंशी नरेन्द्र विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के सभा कवि विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रमदाता के चरित्र तथा उसके वंश का वर्णन किया है। इसके बाद तो ऐसिहासिक काव्यो की एक परम्परा ही चल पड़ी और चरित्र, विजय, विलास, आदि नामों से कई ऐतिहासिक काव्य लिखे गए जिनमे कल्हण की राजतरंगिणी (१०५० ई०), हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (१०८९ ई० ११७३ ई०), वस्तु पालके सभा कवि सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी (११७९-१२६२), अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वस्तुपाल) आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ है। दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रसूरि ने चौदह सदी मे 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखा तथा १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अकबर के सामन्त राजा सुरजन की प्रशसा में गौडदेशीय कवि चन्द्रशेखर ने 'सुरजन चरित' की रचना की। इसी तरह विजयनगर के नरेशो की प्रशंसा में राजनाथ डिंडिम ने 'अच्युतरामाम्युदय' तथा कम्पराय की रानी गंगा देवी ने अपने पति की प्रशंसा में 'मधुराविजय' का प्रणयन किया। जयानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' की भी एक अधूरी प्रति मिली है जो ओझा जी द्वारा सम्पादित होकर अजमेर में प्रकाशित हुई है।

संस्कृत के ऐतिसाहिक काव्यों की यह परपरा थोड़ी-बहुत परिवर्तित रूप में प्राकृत और अपभ्रश में भी दिखाई पड़ती है। यशोवर्मा के सभापंडित वाक्पतिराज का गउडवहो अपनी शली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। अपभ्रंश के रासो ग्रंथ भी एक प्रकार के ऐतिहासिक काव्य ही है यद्यपि इनमें कल्पना का रग ज्यादा गाढ़ा है।

कीर्तिलता भी एक ऐतिहासिक काव्य है। कवि विद्यापति ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए इस काव्य की रचना की। यह एक चरित-काव्य है।

राय चरित्त रसालु यहु णाह न राखहिं गोइ
कवन वंस को राय सो कित्तिसिंह को होइ

भृंगी के इस प्रश्न पर भृंग ने कीर्तिसिंह के चरित्र का उद्घाटन किया। कीर्तिलता एक छोटी सी रचना है इसलिए इसमे चरित काव्यों की तमाम प्रवृत्तियों का मिलना कठिन है। मध्यकालीन चरित काव्यों में कथानक रूढ़ियों का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार की कथानक रूढ़ियों मे एकाध ही कीर्तिलता में मिलती है। उदाहरण के लिए कीर्तिलता संवाद-पद्धति पर लिखी गई है, भृंगी शंका करती है, भृंग उसका उत्तर देता है। रासो के शुक-शुकी सम्वाद की तरह यह भी संवाद है किन्तु यहाँ भृंग-भृंगी वक्ता-श्रोता के रूप में ही बने रहते हैं, नायक की आपद-विपद में सहायता करने के लिए दौड़ते नही। इस प्रकार यद्यपि विद्यापति में बहुत कुछ प्रचलित रूढ़ि का सहारा लिया है किन्तु उसे खीचकर अस्वाभाविकता की सीमा तक लें जाना स्वीकार नही किया।

मध्यकाल के तमाम चरित काव्यों मे कीर्तिलता का स्थान इसीलिए विशिष्ट है कि लेखक ने कल्पना और अतिरंजना का कम से कम सहारा लिया है। ऐतिहासिक घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति जितना सतर्क विद्यापति दिखाई पड़ते है, उतना उस काल का दूसरा कोई कवि नही। ऐसा नही कि उन्होने नायक की युद्ध-वीरता आदि के वर्णन मे अतिरंजना का सहारा लिया ही नही है, लिया है और खूब लिया है, किन्तु कथा के नियोग मे अस्वाभाविक घटनाओं का कही भी समावेश नही किया गया है। केवल रूढ़ियों के निर्वाह के लिए या पाठको को कथा-रस का आनन्द देने के लिए अवान्तर घटनाओं, प्रेम-व्यापार, भूत-परियो, आदि को इसमें कही भी स्थान नहीं है। चरित-काव्यों की तरह इसमें भी आरंभ, में सज्जन-प्रशंसा और खल-निन्दा के रूप कुछ पंक्तियाँ दी गई है—

सुअण पसंसइ कव्व मझु दुज्जन बोलइ मन्द
अवसओ विसहर विस वमइ अमिअ विमुक्कइ चन्द

सज्जन पुरुष चन्द्रमा की तरह हैं जो अमृत-वर्षण करते है किन्तु खल तो विषधर है उनका काम ही विष-वमन करना है; किन्तु

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ

कवि को अपनी प्रतिभा पर अटूट विश्वास है, वह जानता है कि द्वितीया के निष्कलक चन्द्रमा पर दुर्जन का उपहास नही लग सकता वह तो शकर के मस्तक पर सुशोभित होगा ही।

खल निन्दा और सज्जन-प्रशंसा आदि की परिपाटी पूर्ववर्ती काव्यो मे तो है ही तुलसी के मानस आदि परवर्ती काव्यो मे भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्यो में मुख्य रूप से आखेट, प्रेम और युद्ध का वर्णन होता है। कीर्तिकला में अधिकाश युद्ध या युद्ध के लिए उद्योग का ही वर्णन हुआ है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि संभवतः कीर्ति-पताका में प्रेम-आखेट आदि का वर्णन हुआ है। उसके बारे में कुछ कहा नही जा सकता; यद्यपि पुस्तक में कुछ प्रारंभिक पन्ने जो प्राप्त है इसी बात की ओर सकेत करते है। उनमें युद्ध की भूमिका नही शान्ति की भूमिका दिखाई पड़ती है।

मध्यकालीन साहित्य में वृत्तान्त-कथन की दूसरी शैली कहानी या आख्यायिका की है। कीर्तिलता को लेखक ने 'कहानी' कहा है।

पुरिस कहाणी हओ कहओ जसु पत्थावे पुन्न
सुक्ख सुभोअण सुभवअण देवहा जाइ सपुन्न

मैं उस पुरुष की कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्ताव से पुण्य होता है, सुख, सुभोजन, शुभ वचन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

लेखक ने इसे कहानी ही नही कहा है वल्कि आख्यानो के अन्त में दिए महात्म्य की तरह इस कहानी के सुनने के फायदे भी वताए है।

आजकल कथा, कहानी, आख्यायिका का प्रयोग हम सदृशार्थक शब्दो की तरह करते है। किन्तु मध्यकाल में इनके अर्थ में अन्तर था। कथा शव्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अलकृत काव्य-रूप के लिए भी होता था। वैसे कोई भी कहानी या सरस वृत्तान्त कथा है; किन्तु इस शव्द

के अन्दर एक खास प्रकार के काव्य रूप का भी अर्थ नियोजित मालूम होता है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने सरस गद्य मे लिखी हुई कहानी को आख्यायिका कहा है। भामह ने यह भी कहा कि आख्यायिका के दो प्रकार होते है, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका गद्य मे होती थी और इसे नायक स्वय कहता था जब कि कथा को कोई भी कह सकता था। आख्यायिका उच्छ्वासों मे विभक्त होती थी और उसमें वक्त्र और उपवक्त्र छन्द होते थे किन्तु कथा में इस तरह का कोई नियम न था। दण्डी ने इन विधाओं का होना इस प्रकार बताया है :

अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः
अपित्वुनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि

(काव्यादर्श १-२३-२८)

संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि से आख्यायिका और कथा गद्य में लिखी जानी चाहिएँ किन्तु अपभ्रंश या प्राकृत में इस तरह का कोई बंधन न था। इसी से संस्कृतेतर इन भाषाओ में कथायें प्रायः पद्य में लिखी ही मिलती है। इन कथाओ को चरित काव्य भी कहा गया है। अपभ्रंश भाषा के चरित काव्यों में गद्य का एक प्रकार से अभाव दिखाई पड़ता है। कुछ ग्रंथ अवश्य इसके अपवाद भी है। संभव है कि संस्कृत की पद्धति पर कुछ लेखको ने पद्य-गद्य दोनों मे अर्थात् चम्पू काव्य में कथाएँ लिखीं।

जो हो प्रचलित चरित काव्यो में कीर्तिलता इस अर्थ में थोड़ी भिन्न है और उसमे गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। और कथा काव्य की तरह विद्यापति ने भी इस रचना के गद्य खण्डों को भी काफी सरस और अलकृत बनाने का प्रयत्न किया है। कथा कव्यों में राज्यलाभ, कन्याहरण, गन्धर्व

विवाहों की प्रधानता रहती है, किन्तु कीर्तिलता में केवल राज्यलाभ का ही वृत्तान्त दिया गया है। इस तरह कीर्तिलता में कथा-काव्य के कई लक्षण नही भी मिलते। इसी आधार पर द्विवेदी जी का कहना है कि विद्यापति ने जानबूझ कर कीर्तिलता को कथा न कहकर 'कहाणी' कहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर कीर्तिलता मध्यकालीन चरितकाव्यों या ऐतिहासिक किवां अर्ध ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में गिनी जाती है दूसरी ओर इनमें 'कथा' का भी रूप न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। वस्तुतः कीर्तिलता में मध्यकालीन काव्यो की कई विशेताएँ, नगर वर्णन, युद्ध वर्णन आदि के प्रसंग में दिखाई पड़ती हैं, कवि ने समयानुकूल इसमें वर्णन की दृष्टि से छन्दो का भी उचित प्रयोग किया है, साथ ही अपभ्रंश काव्यों की रूढ़ियाँ, कवि-समय आदि इनमें सहज रूप से प्राप्त होते हैं।

कीर्तिलता काव्य जैसा कहा गया है कीर्तिसिंह के जीवन के एक हिस्से यानी युद्ध और राज्यलाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया है। लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में (ईस्वी सन् १३७१ के आसपास) राजलोभी मलिक असलान से तिरहुत के राजा गणेश्वर का धोखे में वध कर दिया। राजा के वध से तिरहुत की हालत अत्यन्त खराब हो गई। चारों ओर अराजकता फैल गई। कवि ने इस अवस्था का बहुत ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया है—

ठाकुर ठक भए गेल चोरे चप्परि घर लिज्झिअ
दास गोसायिनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परभविअ कोइ नहि होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम काँ पारक
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि कइकुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेश जवे सग्ग गउँ

राजा के वध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने गणेश्वर का राज्य उनके पुत्र को दे देना चाहा किन्तु पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को कीर्तिसिंह ने स्वीकार नही किया। वे अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुल्तान इब्राहिम शाह के पास

चले। वड़ी कठिनाई से, दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। जौनपुर क्या था लक्ष्मी का विश्राम स्थान और आँखों के लिए अत्यन्त प्रिय था। कवि विद्यापति ने जौनपुर का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है। वाग-वगीचे, मकान, रास्ते, रहट वाट, पुष्करिणी, संक्रम, सोपान, और हजारों श्वेत ध्वजों से मंडित स्वर्ण कलश वाले शिवालयो के विशद वर्णन से कवि ने नगर को साकार रूप दे दिया है। यही नही, उन्होने नगर की वारीक-वारीक वातों का व्योरेवार वर्णन उपस्थित किया है। गलियो में कर्पूर, कुंकुम, सौगन्धिक, चामर, कज्जल, आदि वेचने वालो के साथ ही कास्य के व्यापारियों की वीथी जो वर्तन गढ़ने की 'झंकार' ध्वनि गूजती रहती थी जिसके साथ और भी मछहटा, पनहटा आदि बाजार के हिस्सों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। नगर के चौड़े चौड़े रास्तों का जनसंमर्द लगता था जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उमड़ पड़ा हो।

नगर का वर्णन विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। तत्पश्चात् विद्यापति ने मुसलमानों के रहन-सहन का बडा ही यथार्थ चित्रण किया है। उनकी आँख के सामने से कोई भी चीज छूट कर वच नही सकी। विद्यापति के मन में इनके प्रति सहज विरक्ति है, इनके वर्णन में भी कही-कहीं उनके मन का क्षोभ व्यक्त हो जाता है। खासतौर से उनकी गन्दी आदतें, शराव, कवाव, प्याज का उन्होंने थोड़ा घृणा-युक्त वर्णन किया है। विद्यापति के शब्दों में एक राजकर्मचारी तुर्क का स्वरूप देखिए :

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भाँग क गुण्डा
बिनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुण्डा
तुरक तोषारहि चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढी थुक वाहइ

अंतिम पंक्तियों में तो तुर्क की उन्होने दुर्दशा ही कर दी है जो घोड़े पर सवार होकर वाजार में घूम कर हेडा (कर या गोश्त) मांगता है. क्रुद्ध दृष्टि से देखकर दौड़ता है तो उसकी दाढ़ी से थूक वहने लगता है।

उस प्रकार के क्रूर शासनाकाल में एक संस्कारी हिन्दू के मन की ग्लानि का स्वरूप देखिए :

घरि आनए वाभन बटआ, मथा चढ़ावए गाइक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चड़ावए चाह घोर
धोआ उरिधाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध
गोरि गोमर पुरिल महि, पएरहु देना एक ठान नही
हिन्दुहि गोट्टओ गिलिए हल तुरुक देखि होए भान
अइसेओ जसु परतापे रस चिर जीवतु सुलतान

वाभन-वटुक को पकड़ लाता है और उसके माथे पर गाय का शुरुवा रख देता है। चन्दन का तिलक चाट जाता है; माथे पर घोड़ा चढा देना चाहता है। धोए नीवार-धान से मदिरा बनाता है और देवालय तोड़कर मस्जिद खडी करता है। कब्रों और कसाइयों से धरती पट गई है, पैर देने की भी जगह नही। तुर्कों की देखने से लगता था कि हिन्दुओ को पूरा पूरा चबा जायेंगे—फिर भी जिस सुलतान के प्रताप में ऐसा होता था, वे चिरजीवी हो।

जिस सुलतान के पास विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह सहायता माँगने गए थे, इसी सुल्तान के राज्य में यह सब कुछ होता था। लक्खन-सेन ने भी तत्कालीन परिस्थिति का बडा मजेदार वर्णन किया है—

भोदु महथ जे लागे काना, काज छाँड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, घोट वइदि नहि चिन्हे वियाधी
कुंजर बाँधे भूखन मरई, आदर सो पर सेइ चराई
चदन काटि करील ले लावा, आँव काटि बवूर वोआवा
कोकिल हंस मँजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपारी
सारीव पंख उपारि पालै तमचुर जग संसार
लखनसेनि ताहने बसे काढि जो खाहि उधार

(इब्राहिमशाह का समय, लखनसेनि, हरिचरित्र विराटापर्व अप्रकाशित)
गणेश्वर की मृत्यु हो जाने पर विद्यापति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। लखनसेनि भी अन्त में अपना क्षोभ रोक नही पाता। कहता है कि सारिकाओं की पाँखें उखाडते है और घरों में मुर्गियाँ पालते है।

इब्राहिम शाह ज़िसके द्वार पर संसार भर के राजे प्रणिपात करते हैं और वर्षो दर्शन नही पाते, दोनों भाइयों पर कृपा करता है और अलसान को पकड़ने के लिए सेना लेकर चलता है। किन्तु कारणवश सेना जो पूरब के लिए चली थी पश्चिम की ओर बढ़ जाती है, उस समय दोनों राजकुमारों की दशा का बहुत ही हृदय द्रावक चित्रण कवि उपस्थित करता है—

सम्बर निरबल, किरिस तनु, अम्बर भेल पुराण
जवन सभावहि निक्करुण तौ न सुमरु सुरतान

विदेश में ऋण भी नही मिलता, मानधनी भीख भी कैसे माँग सकता है, राजा के घर जन्म हुआ, दीनता भरे वचन भी कैसे निकलें :

सेविअ सामि निसंक भए दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किकरउँ गण्डओ गणिअ उपास

मित्र सहायता नही करता, भूख के कारण भृत्यों ने साथ छोड़ दिया, घोड़ों को घास नही मिलती, इस तरह अत्यन्त दुःख की अवस्था में वे दिन विताते रहे।

किन्तु एक दिन अचानक आशा फलवती हुई, सेना को तिरहुति की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई। कीर्तिसिंह के साथ ही विद्यापति कवि भी आनन्द से गा उठे :

फलिअउ साहस कम्मतरु सन्नगह फरमान
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरतान।

कीर्तिसिंह के साथ सेना चली। उस समय संसार भर मे कोलाहल मच गया, सेना के घोडों पर दृष्टि डालिए :

अनेक वाजि तेजि-ताजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेहि जासु नाम दीप-दीपे जानिआ
विसाल कन्ध, चारु बन्ध, सत्तिरूअ सोहणा
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
सुजाति सुद्ध, कोहे कुद्ध, तोरि धाव कन्धरा
विसुद्ध दापे, मारि टापे चूरि जा वसुन्धरा

इस तरह के दर्प से भरे घोड़े उस सेना में चले, राजधानी के पास दोनो सेनाओ की मुठभेड़ हो गई। तलवारे बज उठी, कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही रुण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्तरिक्ष में अप्सराये श्रम-परिहार के लिए अञ्चल से व्यजन कर रही थी, स्वर्ग से पारिजात-सुमनो की वृष्टि हो रही थी। अलसान पकडा गया, किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते देख जीवन-दान दे दिया। इस तरह तिरहुत्ति का राज्य पुनः सनाथ हुआ।

इस प्रकार विद्यापति के इस काव्य में यथार्थ एक नवीन सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ कीर्तिसिंह के वीरता भरे व्यक्तित्व का दर्प दर्शाया है वही उनकी दुरवस्था का भी चित्रण किया है। यही नही विद्यापति के इस कौशल के कारण कीर्तिसिंह निजधरी कथाओ के नायकों से भिन्न कोटि के वास्तविक जीवन पुरुष मालूम होते हैं। विद्यापति के इस चरित्र-चित्रण की मूर्तिमत्ता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नही है जो छाया और आलोक के सामञ्जस्य से चित्रो को ग्राह्य बनाता है बल्कि उस शिल्पी के टाँकी के समान है जो मर्तियो को भित्तिमात्र मे उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा पूरा अनुभव करते हैं।" इतना ही नही विद्यापति की लेखनी में स्वारस्य का वह जादू भी है कि इन मूर्तिवत् चित्रो को सजीव कर देता है, हम वेश्या के नूपुरों की छमक के साथ ही युद्धभूमि के पटह तूर्य की गगनभेदी आवाज भी सुन पाते हैं। काव्य कौशल की दृष्टि से विद्यापति का कोई प्रतिमान नही। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में एक सुरुचि दिखाई पड़ती है। वेश्याओ के काले काले केश में श्वेत पुष्प गुथे हुए है, कवि कहता है मानो मान्य लोगो के मुख चन्द्र की चन्द्रिका की अवोगति देखकर अन्धकार हँस रहा हो—

तन्हि केस कुसुम वस, जनि मान्य जनक लज्जावलंवित मुखचद्र चन्द्रिका
करी अधओ गति देखि अन्धकार हस। नयनाञ्चल सचारे भ्रूलता भंग,
जनि कज्जल कल्लोलिनि करी वीचिविवर्त वड़ी वड़ी सफरी तरंग।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

हिन्दी-संस्कृत

१.	अलकार शेखर	केशवमिश्रकृत, सम्पादक शिवदत्त, बम्बई १९५६ ई०
२.	उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
३	कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा	शिवप्रसाद सिंह, प्रयाग १९५५ ई०
४.	केशव ग्रंथावली	सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग
५.	गाथा सतसई	हालकृत
६.	गीतगोविन्द काव्यम्	जयदेव कृत, गंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा सम्पादित
७.	चिन्तामणि, दूसरा भाग	रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सम्वत् २००२
८.	प्राकृत व्याकरण	हेमचन्द्र कृत, सम्पादक पी० एल० वैद्य, बम्बई।
९.	पाकृत पैंगलम्	सम्पादक मनमोहन घोष, १९०२ ई०
१०	प्राचीन गुर्जर काव्य	गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, नम्बर १३
११.	महाकवि विद्यापति	शिवनन्दन ठाकुर, लहरिया सराय, पटना
१२.	रागतरंगिणी	लोचन कवि कृत
१३.	मध्यकालीन धर्म साधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग
१४.	विद्यापति पदावली	रामवृक्ष वेनीपुरी, लहरियासराय, पटना
१५	विद्यापति	श्री जनार्दन मिश्र

१६. विद्यापति	श्री खगेन्द्रनाथ मित्र और डा० विमान विहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित, हिन्दी संस्करण, पटना, सम्बत् २०१०
१७. विद्यापति ठाकुर	डा० उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद १९३७ ई०
१८. सूर साहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नवीन संस्करण बम्बई १९५६ ई०
१९ सूर सागर	नागरी प्रचारणी सभा, सम्वत् २००७
२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल, छठाँ संस्करण, काशी
२१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पटना, १९५४ ई०
२२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा, संशोधित संस्करण १९५४ ई०
२३. हिन्दी काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९५४ ई०
२४. श्री राधाका क्रम-विकास	डा० शशिभूषण दास गुप्त, हिन्दी संस्करण, काशी १९५६ ई०

बंगला

२५ कीर्तिलता,	हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता
२६. चैतन्य चरितामृत	श्री कृष्णदास कविराज
२७. वंग भाषा उ साहित्य	दिनेशचंद्र सेन
२८. मध्ययुगेर साधना	क्षितिमोहन सेन
२९. विद्यापति पदावली	अमूल्य विद्याभूषण और खगेन्द्रनाथ मित्र—सम्पादित
३०. विद्यापति पदावली	नगेंद्रनाथ गुप्त, १३१६ वंगाब्द

English

31. Maithili Chrestomathy	: G. A. Grierson, Asiatic Society 1881
32 Defense of Poetry	: Shelley

33. Method and Materials
of literary Criticism : Galley
34. Love in Hindu literature : B. K. Sarkar, 1916
35. Songs of Vidyapati : Subhadra Jha, Banaras, 1954
36. Dictionary of world
literary terms : Joseph T. Shipley, London

(इस संक्षिप्त सूची में केवल अत्यावश्यक ग्रंथो का ही परिचय दिया गया अन्य ग्रंथो के प्रकाशन आदि के विश्य में यथास्थान पाद आवश्यक सूचनायें दे दी गई हैं।)

33. Method and Materials
of literary Criticism : Galley
34. Love in Hindu literature : B. K. Sarkar, 1916
35. Songs of Vidyapati : Subhadra Jha, Banaras, 1954
36. Dictionary of world
literary terms : Joseph T. Shipley, London

(इस सक्षिप्त सूची में केवल अत्यावश्यक ग्रंथो का ही परिचय दिया गया है, अन्य ग्रंथों के प्रकाशन आदि के विषय में यथास्थान पाद-टिप्पणियों में आवश्यक सूचनायें दे दी गई हैं।)